वर्ष 8, अंक 2 जुलाई 1992

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाणमासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण
रा.प्र.पांडेय, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

वर्ष 8, अंक 2 जुलाई 1992

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाणमासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण
रा.प्र.पांडेय, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

संपादन-सहयोगी

1. **प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे**, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. **प्रोफेसर दयाकृष्ण**, आर. 9, राजस्थान विश्वविद्यालय परिसर, जयपुर-4
3. **प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद पांडेय**, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, रायपुर विश्वविद्यालय, रायपुर।
4. **डॉ. रमेशचन्द्र शाह**, एफ 3/2, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल-462002
5. **अशोक वाजपेयी**, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली-110011

संपादक

1. **यशदेव शल्य**, पी. 51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302015
2. **डॉ. मुकुन्द लाठ**, ए. 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006

विषय-सूची

1.	नया सोचने के लिए आमन्त्रण	दयाकृषण	89
2.	धर्म-संकट : एक अवान्तर प्रसंग	मुकुन्द लाठ	99
3.	कांट और शंकर की दार्शनिक भूमिकायें — एक संक्षिप्त सामान्य सर्वेक्षण	नारायण शास्त्री द्राविड़	117
4.	प्रतिपादन शैली का अभिनव विकास : स्याद्वाद	आचार्य महाप्रज्ञ	127
5.	आगम	राममूर्ति त्रिपाठी	131
6.	शांकर दर्शन की वैदिकता	बी. कामेश्वर राव	135
7.	धर्म और (वर्तमान) राजनीति	हर्षनारायण	145
8.	प्रतिक्रियाएं : भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद कुछ आक्षेपों का समाधान	नारायण शास्त्री द्राविड़	158
9.	उन्मीलन-गोष्ठियों की कार्यवाही	सरला कल्ला	161

वार्षिक शुल्क	**आजीवन शुल्क**
निजी रु. 30/-	निजी रु. 300/-
संस्था रु. 50/-	संस्था रु. 3000/-

दर्शन प्रतिष्ठान

पी-51, मधुबन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302015

यशदेव शल्य तथा मुकुन्द लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान के लिए संपादित

नया सोचने के लिए आमंत्रण

दयाकृष्ण

आओ कुछ नया सोचें, कुछ नवीन चिन्तन करें। पर, क्या कुछ नया सोचा जा सकता है, कोई नवीन चिन्तन किया जा सकता है? क्या जयन्त भट्ट ने यह नहीं कहा था कि "कुतो वा नूतनम् वस्तु?" और फिर "नया" होता ही क्या है? उनके अनुसार तो सब कुछ "वचोविन्यास वैचित्र्यमात्र" है। पर, "विन्यास-वैचित्र्य" को "नया" क्यों नहीं कहा जा सकता? यह तो कुछ ऐसा ही है कि कोई यह कहे कि आख़िर ताजमहल में कौन-सी नई बात है, वह तो संगमरमर के टुकड़ों को ही इकट्ठा कर एक नया रूप देना है। और ऐसा कहने वाले और अपने को दार्शनिक समझने वाले आपको बहुत से लोग आसानी से मिल जाएंगे। पर, ज़रा सोचिए कि ऐसा मानने का क्या नतीजा होगा? आख़िर चित्रों में भेद तो केवल रंगों के या लकीरों के "विन्यास-वैचित्र्य" का ही होता है। और, आख़िर लिखना, बोलना भी क्या शब्दों का विन्यास-वैचित्र्य नहीं है? शैक्सपीयर हो या कालिदास, बेचारे शब्द तो अपनी भाषा के ही प्रयोग करते हैं। हाँ कभी-कभी कोई नया शब्द भी गढ़ लेते हैं, पर, अगर भूले-भटके कोई लेखक ऐसा कर भी डाले तो उसके लिए क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि उसका नया शब्द भी केवल वर्णों का विन्यास-वैचित्र्य ही है? सोचिए तो, यह कहने वाले कितनी भूल करते हैं। उनके लिए जब तक कोई नया रंग, नया शब्द, नया वर्ण या नया स्वर नहीं ईजाद हो तब तक सब कुछ "नयापन" केवल विन्यास-वैचित्र्य मात्र ही रह जाएगा। और अगर आप अधिक ध्यान से देखें तो क्या सारा तत्त्व-चिन्तन इसी भयंकर भूल पर आधारित नहीं है? यह जानने की अभिलाषा या अभीप्सा पर कि सारा संसार जिन मूल तत्त्वों से बना हुआ है और जिनका ये सब वस्तुएं केवल विन्यास-वैचित्र्य मात्र हैं वही मूल तत्त्व वास्तव में सत् है और यह सब विविधता केवल प्रतीति या माया मात्र है।

इस प्रकार की खोज दर्शन में प्रायः शुरु से ही देखी जाती है। मूल तत्त्व क्या है, इसके अनेक उत्तर दिए गए हैं और दर्शन का इतिहास, चाहे वह पश्चिमी हो या पूर्वी, इससे भरा मिलेगा। पर, क्या ऐसा नहीं लगता कि यह खोज एक मूल भ्रान्ति से ग्रसित है जो यह मानकर चलती है कि विन्यास-वैचित्र्य या संघात या तानाबाना जो उत्पन्न होता है, या उत्पन्न किया जाता है, वह उससे, जिस मूल से वह रचित होता है, सत् की दृष्टि से कुछ कम है? "रचना" के ये उपकरण ही सत् हैं, रचना स्वयं में तो गौण है क्योंकि वह उन पर आधारित है, और "आधारित" होना सत् का, कम से कम चरम् सत् का लक्षण नहीं हो सकता। पर ऐसा मानने का आधार क्या है? मनुष्य की रचनाओं के

सम्बन्ध में तो यह स्पष्टतः ग़लत मालूम होता है क्योंकि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो फिर मानव की सारी सृष्टि ही बेमानी लगने लगेगी। पर, ऐसा तो कोई नहीं मानता। ऐसा कौन सिरफिरा होगा जो यह कहेगा कि अजन्ता के चित्र, खजुराहो की मूर्त्तियां, तानसेन का संगीत, कालिदास के नाटक वास्तव में कोई सत् नहीं रखते। और, अगर ये सत् रखते हैं तो फिर जिनसे ये रचनाएं बनी हैं, जिन पर "आधारित" हैं वह अधिक "सत्" तो हो ही नहीं सकता। अगर सत् को भी कम-ज्यादा माना जाये तो अधिकांश लोग उनको इनसे कम सत् ही कहेंगे।

"कम" या "ज्यादा" सत् की बात करना एक बात है और "कम" या "ज्यादा" सत्य की बात करना और। क्योंकि एक तरह से यह कहा जा सकता है कि हमारा ज्ञान कम या अधिक सत् है, कुछ अजीब सा ही लगेगा। और, ऐसा तभी कहा जा सकता है जब सत् को मूल्यात्मक दृष्टि से देखा जाए। पर, तब "सत्" को मनुष्य के मूल्यात्मक परिप्रेक्ष्य में ही देखना होगा। या दूसरी तरह से कहें तो वह पुरुषार्थ-सापेक्ष हो जाएगा। अन्यथा जो भी सत् है, वह सब एक ही प्रकार से सत् होगा, न कम न ज़्यादा। यह ठीक है कि हमें मूल्यवत्ता या सार्थकता का अनुभव इस प्रकार नहीं होता कि वह हमारे लिए ही सार्थक या मूल्यवान् है, बल्कि प्रतीत तो ऐसा ही होता है कि वह अपने-आप में ही अधिक मूल्यवान् या सार्थक है। परन्तु, सत् की दृष्टि से उसे इस प्रकार देखना कहां तक उचित होगा यह स्वयं विवादास्पद प्रश्न है।

पर, ज़रा सोचिए कि अगर हमारे ज्ञान के विषय स्वयं संरचित हैं तो उनकी यह संरचना किस प्रकार की है और कैसे होती है? संरचना के लिए, जिससे वह होती है उसकी पूर्वापेक्षा होती है। पर, इसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह, जिसकी संरचना के लिए पूर्वापेक्षा है, स्वयं संरचित न हो। वह भी संरचित हो सकता है। पर, अगर ऐसा मानें तो यह शृंखला एक प्रकार से अनन्त हो जाएगी, और अगर हम ढूंढने की चेष्टा करेंगे तो वह किसी ऐसी वस्तु या वस्तुओं में समाप्त होगी जो पूर्णतः असंरचित हैं या पूरी तरह से प्रदत्त हैं। चरम तत्त्व की तलाश कुछ-कुछ इसी प्रकार की है। ख़ासतौर पर जब हम महाभूत आदि के बारे में चर्चा करते हैं तो वह कुछ इसी प्रकार की होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, जिनसे एक ज़माने में लोग सारा जगत् बना हुआ मानते थे, वे कुछ इसी प्रकार की वस्तुएं हैं। शरीर में वात, पित्त और कफ़ भी इसी प्रकार की सोच के परिणाम मालूम होते हैं। और, आज जो इलेक्ट्रोन, प्रोटोन या अन्य इसी प्रकार के कण, जिनकी खोज आधुनिक भौतिकी ने की है, वे भी इसी प्रकार के हैं। क्या इस प्रकार की खोज कभी समाप्त होगी, यह भी अपने-आप में विचारणीय प्रश्न है। पर, खोज समाप्त हो या नहीं हो, जो संरचित है वह जहां एक ओर उसको पूर्वमान्य करता है जिसके आधार पर या जिसको लेकर उसकी संरचना होती है वहीं दूसरी ओर वह किसी रचनाकार की ओर भी इशारा करता है। मनुष्य की कृतियों के संदर्भ में तो मनुष्य ही रचनाकार के रूप में प्रस्तुत होता है और अधिकांशतः विचारक यह मानकर चलते हैं कि जो मनुष्य के द्वारा रचित नहीं है वह या तो ईश्वर के द्वारा रचित है या स्वयं में अरचित ही है। "ईश्वर"

से यहां किसी विशेष सत्ता का अभिप्राय नहीं है बल्कि केवल यह कि जड़ प्रकृति के विपरीत ऐसी कोई चित् शक्ति है जो उस संरचित की कारण है। अधिकांशतः मनुष्य और "ईश्वर" के बीच किसी और रचनाकार की कल्पना नहीं की जाती। पर, ध्यान से देखें तो एक प्रकार से प्राणि मात्र रचना के कार्य में संलग्न होता है। पशु-पक्षी तो स्पष्ट रूप से अपना वातावरण बनाते ही हैं और उसमें परिवर्तन भी करते रहते हैं। परन्तु, यह बात पशु-पक्षियों तक ही सीमित नहीं है। पेड़-पौधों पर भी उसी तरह लागू होती है जैसे पशु-पक्षियों पर। आप पेड़ लगाएं तो देखिए उसमें कितने प्रकार के परिवर्तन की बात हरेक के मुंह से सुनाई देती है। वह एक प्रकार से पशु-पक्षी आदि के संरचनात्मक तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहता है। पर, यह तो सब प्राणिजगत् की चीज़ है। क्या इससे परे जो जड़ जगत् है उसमें कोई संरचना नहीं होती? क्या "संरचना" शब्द का प्रयोग यहां कुछ अजीब-सा नहीं लगेगा? पर, अगर कोई यह मानता है कि पृथ्वी पर आज पाए जाने वाले जड़ तत्त्व हमेशा इसी प्रकार के नहीं थे और वास्तव में भौतिकी और रासायनिक शक्तियों के द्वारा उनकी संरचना हुई है, तब यह मानना पड़ेगा कि वे भी संरचना के विषय हैं। जड़ शक्तियां ऐसी वस्तुओं को उत्पन्न करती हैं। कोई यह कह सकता है कि इस संदर्भ में "संरचना" शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है क्योंकि यह तो केवल एक प्रक्रिया का परिणाम मात्र ही हो सकता है। इसमें कोई ऐसा "चयन" नहीं है जिसमें अन्य संभावित अवस्थाओं को छोड़कर किसी एक का ही चयन किया गया हो। अगर ऐसा मानें तो "संरचना" के संदर्भ में यह मानना ज़रूरी होगा कि वह हमेशा अनेक संभावित चयनों में से एक होती है और तब जो संभावनाएं छोड़ दी गई होती हैं वे भी उतने ही महत्त्व की होती हैं जितने की वह ज़ो चुनी गई है। बौद्धों ने "अपोह" के सिद्धांत में यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि किसी वस्तु को समझने के लिए उसका अन्य वस्तुओं से भेद समझना ज़रूरी होता है। यही नहीं, वे तो ऐसा भी मानते प्रतीत होते हैं कि "समझने" का अर्थ ही यह है। पर, "संरचना" को इस प्रकार से समझने में अपोह के सिद्धांत का एक नया आयाम खुलता दिखाई देता है और वह यह है कि किसी वस्तु को समझने के लिए उसको अन्य संभावित संभावनाओं से पृथक् करके देखना ज़रूरी है और केवल उनके ही परिप्रेक्ष्य में उसको वास्तव में समझा जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में कुछ-कुछ इस प्रकार की बात किसी वस्तु के आर्थिक मूल्य को समझने के संदर्भ में की जाती है : जहां किसी वस्तु का आर्थिक मूल्य एक प्रकार से उन सब वस्तुओं के मूल्य से संबंधित होता है जिनका त्याग करके या जिनको न खरीदकर मनुष्य उसको खरीदता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में इसे अपॉरचुनिटी का सिद्धांत कहा जाता है। यही नहीं, भौतिक शास्त्र में भी, जो पूर्णतः जड़ वस्तुओं से संबंधित माना जाता है, रिचर्ड फाइनमैन जैसे वैज्ञानिकों ने यह कहने की चेष्टा की है कि किसी भी अन्यतम कोटि के परमाणु कण का रास्ता एक तरह से इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है कि वह अन्य अनेक मार्गों में से एक ऐसा चयन किया हुआ या चुना हुआ मार्ग है जो सबसे सरल और सीधा है।

या यों कहें कि जिसमें उस परमाणु कण को कम से कम शक्ति का व्यय करना पड़ता है। एक प्रकार से यह बात कुछ-कुछ प्रसिद्ध गणितज्ञ और वैज्ञानिक लॉग्राज़ की उस बात से मिलती-जुलती मालूम होती है जिसमें उसने यह कहा था कि प्रकृति के नियम पता लगाने का सब से सीधा और सरल रास्ता यह है कि हम यह मानकर चलें कि जिसका हम पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं उसमें प्राकृतिक शक्तियां अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में कम से कम समय में कम से कम शक्ति का उपयोग करती हैं। पर, अर्थशास्त्र और भौतिकी में चाहे इसका महत्त्व कुछ भी क्यों न हो, किसी वस्तुस्थिति को उसके संरचना-संदर्भ में देखने का मतलब ही यह होता है कि हम उसको एक कालक्रम में देखते हैं और इस तरह उसको दो रूपों में एक-साथ देखने की कोशिश करते हैं जो एक-दूसरे से संलग्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं। इसमें से एक रूप तो उसका वह है जो प्रदत्त है, जो हमारे सामने है, जिसको हम समझने की चेष्टा करते हैं और जिस संदर्भ में ही हम अपने "समझने" को सत्य या असत्य ठहराते हैं। परन्तु दूसरा प्रदत्त न होकर संभावित होता है और संभावित रूप के बारे में यह कहना कठिन होता है कि वह सत्य है या असत्य। उसके बारे में तो केवल यही कहा जा सकता है कि वह असंभव नहीं है और अगर हम पहले की वस्तुस्थिति पर ध्यान दें तो उसका संभावित होना सार्थक भी लगता है।

एक तरह से यह बात इतिहास के संदर्भ में बार-बार उठती है। जो भी इतिहास पढ़ता है या लिखता है उसे बार-बार यह महसूस होता है कि उस समय ऐसा भी हो सकता था, अगर उसने ऐसा किया होता तो ऐसा नहीं होता। आज जो हुआ है वह अनिवार्य नहीं था और इससे भी अधिक उसको अचम्भा तो यह होता है कि उस ज़माने के अनेक लोग जो कुछ करने में लगे हुए होते हैं, और खूब सोच-विचार कर ही काम कर रहे होते हैं, उनके कार्यकलापों का फल तो बाद में जो होता है वह उस सबसे बहुत अलग मालूम होता है जिसे वे चरितार्थ करने की कोशिश कर रहे थे। अगर हाल की घटना को लें तो क्या कोई सोच सकता था कि उन लोगों की, जिन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए अनथक और अनवरत चेष्टा की और जिनमें महात्मा गांधी जैसे लोग भी थे, सारी कोशिशों का नतीजा ऐसा स्वतन्त्र भारत होगा जो आज सब के सामने है? तो, क्या यह मानना होगा कि प्रदत्त और संभावित रूप में कोई तालमेल होता ही नहीं है और आज जो प्र... है वह किसी संभावित तथ्य का अंग या अंश नहीं है? ज्ञान के संदर्भ में इस प्रश्न को उठाना ज्ञान की आधारशिला को ही हटा देना है, क्योंकि ज्ञान की आधारशिला यह मानकर चलती है कि जो है सो है और जो है वह सदैव वैसे ही था और वैसा ही रहेगा, और अगर यह आधारशिला ही ग़लत है तो फिर ज्ञान की बात करना निरर्थक ही होगा क्योंकि वह एक मूल भ्रांति पर ही आधारित मानी जाएगी।

कुछ लोगों ने ऐसा माना भी है और दार्शनिकों ने इस आधार पर सारे जगत् को, कि उसमें हमेशा परिवर्तन होता रहता है, असत् ठहराया है। गीता का इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वाक्य है कि "नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः" जिसका अर्थ यह है कि जो सत्

है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका अभाव होता है वह कभी सत् नहीं हो सकता। परन्तु, जगत् में तो सब वस्तुओं का जिन्हें हम जानते हैं और जिनके बारे में हम जानने की कोशिश करते हैं उनका, न्याय की शब्दावली में, प्रागभाव और ध्वंसाभाव दोनों निश्चित हैं। इन शब्दों का मतलब सीधा-सीधा यही है कि जिस वस्तु को हम प्राप्त करने की कोशिश में हैं वह कभी नहीं थी और एक ऐसा समय भी आयेगा जब वह नहीं होगी। इस प्रकार से अगर हम गीता की बात मान लें तो इन सब वस्तुओं का, जिनका जन्म और नाश दोनों होता है, ज्ञान हो ही नहीं सकता या जो भी ज्ञान होगा वह ज्ञान कहलाने का अधिकारी ही नहीं होगा। दूसरी ओर अगर हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करें जिसका न जन्म होता है और न नाश, तब उसके "ज्ञान" के बारे में यह समस्या उठेगी कि क्या उसका भी जन्म और नाश नहीं होता? कहने का मतलब यह है कि ज्ञान एक ऐसी प्रक्रिया है या उस प्रक्रिया का फल है जिसके बारे में यह कहना सार्थक है कि वह कभी नहीं था, कि हम अज्ञान की अवस्था में थे, और अब ज्ञान हुआ है। और अगर यह बात सच है तो कम से कम उस चिरंतन सत् के बारे में भी जो ज्ञान होगा वह अज्ञान की अवस्था को हटाकर ही उत्पन्न होगा और इसलिए वह स्वयं चिरंतन नहीं कहा जा सकता और यदि ऐसा है तो वह स्वयं सत् कहलाने का अधिकारी नहीं होगा। यहां एक और भी समस्या उत्पन्न होती है, वह यह है कि अगर हम यह मान भी लें कि ज्ञान किसी ऐसी प्रक्रिया का फल है जो उसको उत्पन्न करती है चाहे उसका विषय सत् हो या असत्, तब भी एक बार उत्पन्न होने के बाद क्या उसका अभाव हो सकता है? साधारण रूप में जिस प्रकार का ज्ञान होता है उसके बारे में यह कहना कठिन होगा कि वह ज्ञान फिर लुप्त नहीं हो जाता। उसकी विस्मृति हो सकती है और ऐसा कोई नियम प्रतीत नहीं होता कि एक बार अगर ज्ञान हो गया तो वह हमेशा के लिए हमारे पास रहेगा। और "हमारे पास रहने" का क्या अर्थ है? इसका यह तो अर्थ नहीं हो सकता कि वह हमारी चेतना का ऐसा अभिन्न अंग है कि 24 घंटे हमारे पास रहेगा। आख़िर हम सोते भी हैं, और भी अनेक काम करते हैं, और अगर यह सच है तो उसका 24 घंटे हमारी चेतना का अभिन्न अंग होना असम्भव ही होगा। अगर हम यह मानें कि इसका अर्थ यह नहीं होकर यह है कि हम जब चाहें उसको पुनः प्राप्त कर सकते हैं, तब समस्या यह होगी कि क्या वह जब पुनः हमारे चाहने पर हमारी चेतना में उपस्थित होगा तब क्या वह पूर्णरूपेण वैसा ही होगा जैसा कि पहले था? कहने का आशय यह है कि चेतना का कालक्रम में जो प्रवाह है उससे वह क्या बिल्कुल अछूता रह जायेगा, और यह भी कि हम यह कैसे कह पायेंगे कि वास्तव में यह ज्ञान बिल्कुल वैसा ही है जैसा कि पहले था? एक तरह से यह सब प्रकार की स्मृतियों की समस्या है और इसका कोई समाधान मुश्किल ही मालूम होता है। लेकिन ज्ञान के संदर्भ में यह समस्या ऐसे अनेक प्रश्नों को जन्म देती है जो चिरंतन सत् की बात को मानने पर भी उसके ज्ञान के बारे में नहीं सुलझती, बल्कि अधिक उलझती ही मालूम होती है। आख़िर सोचिए कि ज्ञान मनुष्य को होता है, और

मनुष्य अनेक हैं और वे मरणशील भी हैं। इसलिए जो चिरंतन सत् का ज्ञान मनुष्य को होता है वह किसी मनुष्य विशेष को होता है और परम्परा से उसके द्वारा अन्यों को प्राप्त होता है। पर, जैसे यह समस्या है कि चिरंतन सत् का ज्ञान जब किसी व्यक्ति को एक बार हो जाता है उसके बाद जब वह उसको फिर स्मरण के द्वारा अपनी चेतना में प्रस्तुत करता है तो वह उसी प्रकार का होता है जैसा कि पहले का था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार यह भी समस्या उठती है कि एक व्यक्ति का चिरंतन सत् का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के चिरतन सत् के ज्ञान से भिन्न है या कि वैसा ही है? भिन्न तो वह हो नहीं सकता। लेकिन फिर भी यह कैसे पता चलेगा कि वह क्या है? भगवान महावीर और बुद्ध दोनों एक ही समय में और एक ही स्थान पर हुए थे और महावीर तो अपने को सर्वज्ञ भी मानते थे और कुछ हद तक भगवान् बुद्ध भी मानते थे। पर दोनों का सत् का ज्ञान क्या एक ही था? क्या दोनों एक-दूसरे के सत् के ज्ञान के बारे में अवगत थे और अगर थे तो क्या उन्हें लगता था कि दूसरा ज्ञान वास्तव में ज्ञान ही है? यह बात केवल भगवान महावीर और भगवान बुद्ध पर ही लागू नहीं होती। यह तो उन सबके ऊपर लागू होती है जो अपने को चिरंतन सत् का ज्ञाता मानते हैं, फिर चाहे वह ईसा हो या मुहम्मद, शंकर हो या रामानुज या कोई भी अन्य नाम जो इतिहास में इस बात से जुड़ा है। आज के युग में भी श्री अरविन्द और रमण महर्षि, जो एक-दूसरे के समकालीन थे और एक-दूसरे से बहुत ज़्यादा दूर नहीं रहते थे, के बारे में भी क्या वही बात सच नहीं है जो भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के बारे में थी? कहने का अर्थ यह है कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों का ज्ञान उस चरम सत् के बारे में एक-सा हो सकता है, इसका निर्णय कैसे किया जाए?

इस तरह ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान के बारे में जितनी भी प्रचलित दार्शनिक मान्यताएं हैं वे सब ठीक नहीं हैं। ज्ञान हमेशा किसी ऐसी दी हुई वस्तु का नहीं होता जो वस्तु मनुष्य या किसी अन्य के द्वारा सर्जित नहीं हो। यही नहीं, अगर सोचें तो ज्ञान स्वयं किसी ऐसी प्रक्रिया का फल होता है जिसको हम चिन्तन का नाम देते हैं और यह पहले तो विचार में प्रतिफलित होता है और फिर भाषा में आबद्ध होकर बोला या लिखा जाता है, और तब यह एक ऐसा विषय-रूप ले लेता है जिसके द्वारा जो भी अन्य लोग उस भाषा को जानते हैं वे उसको समझ सकते हैं या प्राप्त कर सकंते हैं। परन्तु ऐसा रूप लेने से इसमें दो विशेषताएं उत्पन्न होती हैं, एक तो यह कि उसने जो भाषा का रूप लिया है वह दूसरे को समझ में आना चाहिए। केवल प्रत्यक्ष रूप में ही उपस्थित होकर वह समझी नहीं जा सकती। उसको समझने के लिए कुछ और तरह की कोशिश करनी पड़ती है। हर को समझना कोई आसान बात नहीं है। हाल तो यह है कि आदमी अपनी ज़ुबान को छोड़कर जिसमें वह पैदा हुआ है बाकी सब ज़ुबानों को मुश्किल से ही समझ पाता है। इसलिए ज़ुबान दुनिया की और चीज़ों से बिल्कुल अलग है। यही नहीं, बल्कि उसको समझने की बात को लेकर आदमियों में फ़र्क पैदा हो सकता है। इसलिए ज्ञान

की बात करते ही यह बात पैदा होती है कि असल में जो कोई इस ज्ञान को समझ रहा है क्या उसकी समझ ठीक है? और इसके बारे में फ़ैसला होना बहुत ही मुश्किल होता है। यही नहीं, एक तरह से देखें तो मुश्किल और भी ज्यादा महसूस हो सकती है। और वह यह है कि ख़ुद जिसने उस इल्म को ज़ुबान में बांधा था वह भी इस चक्कर में पड़ सकता है कि असल में उसका क्या मतलब था। क्या ज़ुबान सही तौर पर उसकी बात को कह पाई है? इससे भी अलग एक और बात यह है कि ज्ञान या इल्म के बारे में यह साफ ज़ाहिर होता है कि उसको समझने के साथ ही, फिर चाहे वह समझ ग़लत हो या सही, एक सवाल हमेशा उठता है कि वह बात जो कही गई है, सही है या नहीं? यह बात और चीज़ों के बारे में ज्यादातर नहीं उठती। उनके बारे में तो सिर्फ यह सवाल उठता है कि वह अच्छी है या बुरी, हमें फायदा पहुंचाने वाली है या नुकसान, खूबसूरत है या बदसूरत। ज्ञान के बारे में जो सवाल उठता है वह इससे बिल्कुल अलग मालूम होता है, हालांकि उसके बारे में भी यह सवाल उठाया जा सकता है, और एक तरह से उठाया जाता भी रहा है, कि उसका फ़ायदा क्या है? आदमी को उस ज्ञान की क्या ज़रूरत है? और, अगर ज़रूरत नहीं है तो वह अपना वक्त उसको समझने में बेकार क्यों लगाए? पर, सही या ग़लत होने का जैसा सवाल ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ मालूम होता है, वैसा फायदे या नुकसान का नहीं है।

यह ठीक है कि कभी-कभी प्रत्यक्ष के ज्ञान में भी शंका उत्पन्न होती है और यह लगता है कि क्या असल में जो मैं देख रहा हूं वह वैसा ही है जैसा कि मुझे दिख रहा है? रस्सी और सांप की मिसाल हिन्दुस्तानी फ़िलसफे में मशहूर है और यह सब को पता है कि हमें सूरज चलता हुआ दिखाई देता है जबकि कम से कम आज सब के सब यह मानते हैं कि ज़मीन चलती है, सूरज नहीं। इन दो तरह की ग़लत फहमियों में एक ऐसा फर्क है जिस पर लोगों का ध्यान नहीं गया है। रस्सी दिखने पर सांप का दिखना बन्द हो जाता है। पर, यह जान लेने पर भी कि ज़मीन चलती है, सूरज नहीं, सूरज का चलते दिखना बन्द नहीं हो जाता। इन दोनों मिसालों से ऐसा लगता है कि ज्ञान के दो प्रकार हैं, एक ऐसा कि जिसके होने पर ग़लत फ़हमी बिल्कुल खत्म हो जाती है और दूसरा वह जहां गलतफहमी या ग़लत दिखना बरकरार बना रहता है, सिर्फ बुद्धि के स्तर पर एक फर्क पैदा होता है, यानि कि हम अपने-आप से यह कहते हैं कि दिखता तो है पर असल में ऐसा नहीं है। लेकिन कुछ ऐसे भी मौके होते हैं जब हम ग़लत दिखने को यह जानकर भी कि वह ग़लत है, पसन्द करते हैं। यही नहीं, बल्कि उस ग़लत दिखने को पैदा करने के लिए कोशिश करते हैं कि उन सब तरीकों को अपनाएं जिनसे कि वह हमें ग़लत दिखे, क्योंकि इन संदर्भों में ग़लत दिखना ही सुन्दर दिखना होता है।

अगर हम इस बात पर कुछ अधिक ध्यान दें तो एक अजीब-सी उलझन हमारे सामने पैदा होती है। क्योंकि हम यहां इस बात को स्वीकार करते हैं कि कुछ विशेष संदर्भों में जो ग़लत है या भ्रमपूर्ण है वही ठीक है क्योंकि वह हमारी चेतना में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है जो बांछनीय है। और, यदि ऐसा है तो फिर इसका एक नतीजा यह होगा

कि हम सत्य-असत्य के विचार से उसको अधिक श्रेयस्कर मानेंगे जो हमारी चेतना में उस वांछित स्थिति क़ो उत्पन्न करता है। एक प्रकार से अनेक कलाकृतियां, पौराणिक आख्यान, साहित्यिक रचनाएं तथा सभी आध्यात्मिक साधन आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इन संदर्भों में सत्य-असत्य की बात करना बेकार सा ही लगता है क्योंकि ये हमें उनसे अधिक अर्थवत्ता लिए हुए प्रतीत होते हैं जिनके सम्बन्ध में सत्य-असत्य की बात उठाना हम ज़रूरी समझते हैं। तो क्या आदमी अपनी सार्थकता उसी में पाता है जिसका सत्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है? कुछ हद तक यह बात मनुष्य की उस वृत्ति में मिलती है जो उसे लगातार उन चीजों की खोज में लगाए रखती है जिनके खाने या पीने से उसकी चेतना में एक अजीब-सा परिवर्तन आता है जिसे वह अच्छा समझता है। बहुत-सी नशा करने वाले चीज़ें इसी तरह की हैं और हालांकि हरेक युग में और हर सभ्यता में इनका उपयोग बुरा माना गया है तब भी मनुष्य बार-बार इनकी ओर आकृष्ट होता है। चेतना में परिवर्तन के ये सब तरीके क्या इस ओर इशारा नहीं करते कि मनुष्य वास्तव में बाह्य जगत् को एक साधन के रूप में ही स्वीकार करता है जबकि साध्य वह स्वयं अपने को ही मानता है? पर, बाहर के जगत् में अन्य प्राणी भी तो हैं जिनमें ऐसी चेतना है जिसको भी सुख-दुःख होता है और उनमें से कुछ तो ऐसे भी हैं जो आत्म-चेतन हैं और हमारी तरह ही अपनी चेतना को केन्द्र बनाए सारे जगत् को उसके चारों तरफ घूमता हुआ ही देखते हैं। पर यह ज्ञान कि मैं दूसरे के सुख-दुःख का कारण हो सकता हूं, कि मैं जो करता हूं या कहता हूं या जो भी मेरा व्यवहार है वह उसकी चेतना को प्रभावित करता है, क्या मेरे में कुछ उत्तरदायित्व का बोध उत्पन्न नहीं करता? और करता है तो फिर क्या यह मेरे में एक अन्य-केन्द्रित भावना या चेतना को जन्म नहीं देता? और क्या सारा खेल इस स्वकेन्द्रित चेतना और अन्य केन्द्रित चेतना के बीच के तनाव या संघर्ष का ही नहीं है?

पर, यदि "अन्य" हैं और मेरा व्यवहार उनको प्रभावित करता है और इसकी चेतना मेरे में उनके प्रति उत्तरदायित्व की भावना को जन्म देती है तो क्या मनुष्य की चेतना के लिए "अन्य" की सत्ता स्वतन्त्र रूप में सत् नहीं है? और, अगर ऐसा है तो फिर जो लोग यह मानते हैं कि वास्तव में सत् एक ही है और कोई भी भेद अपने-आप में सत् नहीं है वे कहां तक ठीक समझे जाएं?

बहुत से लोग ऐसा कहते मिलेंगे कि अगर हम अपने और दूसरे में फ़र्क को मानें तो फिर हम उसके प्रति कैसे ठीक बर्ताव कर सकेंगे? पर, सोचने पर तो यह बात ठीक नहीं मालूम होती, क्योंकि हम दूसरे के प्रति वैसा व्यवहार करना ठीक नहीं समझते जो अपने प्रति करते हैं। जब कोई मेहमान घर में आता है तो हम उसकी ख़ातिर करते हैं चाहे हमने स्वयं उपवास ही क्यों नहीं कर रखा हो। कोई भी जो यह मानता है कि स्वयं उपवास करना चाहिए, या कम से कम खाना चाहिए, या सहिष्णु होकर सर्दी-गर्मी को बर्दाश्त करना चाहिए, वह दूसरे के लिए ऐसा करना ठीक नहीं समझेगा कि उसको कम से कम खाना खिलाएं और सर्दी-गर्मी में ठिठुरने या तपने दे। यह मिसाल बहुतों को

हास्यास्पद लगेगी, पर अगर हम इस पर गहराई से सोचें तो यह इतनी हंसने की बात नहीं है, क्योंकि इसमें वह बात छिपी है जो हमको यह बताती है कि हम दूसरों के प्रति व्यवहार में और अपने प्रति व्यवहार में एक गहरा भेद करते हैं और इस भेद का मूल वह भेद है जो मेरे और "अन्य" की सत्ता में है। क्या किसी को यह बताने की ज़रूरत है कि हर आदमी अपने माता-पिता, स्त्री, बच्चों, पति या रिश्तेदारों के लिए ऐसा बहुत कुछ करता है जो वह अपने लिए करने के लिए न केवल तैयार नहीं होगा बल्कि जिसको वह ग़लत भी समझेगा?

इस सबको यह कहकर टाल देना कि यह सब व्यवहार-सत् है, पारमार्थिक सत् नहीं, समस्या का कोई हल नहीं करता, क्योंकि समस्या तो व्यावहारिक स्तर की है और हम लोग जो शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार आदि से अनुप्राणित हैं वे तो व्यवहार-जगत् में ही रहते हैं। और अगर कोई जीवन-मुक्त हो भी जाता है तो भी उस बिचारे को कुछ व्यवहार तो करना ही पड़ता है, कम से कम जब तक वह ज़िन्दा रहता है।

असल में हम कर्म से जिस संसार की रचना करते हैं उसके सत्य की खोज करना हमारे ज्ञान का लक्ष्य होना चाहिए, न. कि केवल उस सत् के सत्य की खोज करना जो हमसे बिल्कुल ही परे है और जो हमारे चिन्तन-मनन, व्यवहार आदि से बिल्कुल ही प्रभावित नहीं होता। सुना है भगवान भक्ति से प्रभावित होते हैं और कहीं उन्होंने ऐसा भी कहा है कि मैं वहीं निवास करता हूं जहां मेरे भक्त मेरी भक्ति में तन्मय होकर कीर्तन करते हैं। पर, भगवान की बात छोड़ भी दें, तो भी प्रत्येक मनुष्य एक जगत् का स्रष्टा है। और वास्तव में तो हम सब मिलकर ही एक ऐसे जगत् की सृष्टि करते हैं जहां हम दूसरे के सुख-दुःख के कारण बनते हैं और एक-दूसरे के श्रेय और प्रेय में साधक और बाधक सिद्ध होते हैं। अगर हमारी यही नियति है तो हम इसको सहर्ष स्वीकार क्यों न करें और एक ऐसे जगत् की सृष्टि करने में संलग्न हों जहां प्रत्येक एक-दूसरे के हित का साधक बनता है बाधक नहीं। क्या मानवीय स्वर्ग की यही परिभाषा नहीं होगी?

हमने कहा था कि आओ कुछ नया सोचें और उस सोचने की प्रक्रिया में हमने अपने आपको सहज रूप में धीरे-धीरे अनेक समस्याओं में उलझाया भी। यह सब "नया" नहीं भी हो पर कम से कम "सोचने" का उदाहरण तो है ही और एक तरह से इसका लक्ष्य भी यही था कि हम सोचने की प्रक्रिया की ओर ध्यान दें, उसके किसी विशेष फल की ओर नहीं। "सोचना" कुछ उस प्रकार के भ्रमण जैसा है जहां आप केवल आनंद के लिए घूमते हैं और जहां कोई आकर्षक मोड़ मिलता है उसी ओर चले जाते हैं। "बौद्धिक भ्रमण" का नाम ही "सोचना" है। इसका लक्ष्य कहीं पहुंचना नहीं होता, पर केवल घूमने में ही आनन्द लेना होता है। दर्शन या फ़िलसफ़ा इसी को कहते हैं, उसको नहीं जो आपने बड़ी-बड़ी मोटी किताबों में पढ़ा है। अगर आपको अच्छा लगा हो, आनन्द आया हो, तो आप भी स्वयं, और दोस्तों के साथ, इस प्रकार के बौद्धिक उद्यानों में विचरण किया करें।

— विश्वविद्यालय मार्ग,

बापू नगर, जयपुर 302004

धर्म-संकट : एक अवान्तर प्रसंग*

मुकुन्द लाठ

आनृशंस्य की धारणा को पहले कुछ समझने और समझाने की चेष्टा करता हूं, क्योंकि **महाभारत** में चाहे उसे परम धर्म कह कर गरिमा के शिखर पर रखा गया हो पर उसका प्रयोग भी **महाभारत** तक ही सीमित सा जान पड़ता है। 'आनृशंस्य' यह शब्द साधारण प्रयोग में तो अनजाना सा है ही, साहित्य में भी, यहां तक कि धर्मशास्त्र के लम्बे और विशाल साहित्य तक में, जहां उसके प्रयोग का परिचय मिलना स्वाभाविक लगता है, वहां भी वह अपरिचित सा ही है। परम धर्म के नाम से तो क्या, धर्मशास्त्र में आनृशंस्य की कहीं साधारण धर्मों में भी मैंने गिनती नहीं देखी है।

तो, आनृशंस्य को **महाभारत** से ही समझना होगा। या यों कहें तो अच्छा होगा कि आनृशंस्य के अर्थ के सार को **महाभारत** के मंथन से बाहर निकालने की चेष्टा करनी होगी। **महाभारत** दर्शन-ग्रन्थों की तरह लक्षण, युक्ति-विचार और विवरण-विवेचना के सहारे बात को खोलने-बढ़ाने वाला ग्रन्थ नहीं है। इतिहास-पुराण है। स्मृति भी है, पर इतिहास में पिरोई हुई, इतिहास-गर्भित है। किस अर्थ में इतिहास है, यह प्रश्न उठ सकता है। पर यहां नहीं उठाऊंगा। मैं समझता हूं कि एक बात फिर भी आपके सामने निर्विचार रख सकता हूं, इस भरोसे के साथ कि आप उससे इनकार नहीं करेंगे। **महाभारत** इस अर्थ में तो इतिहास है ही कि कथा है, विगत की कथा। अपनी बात कथा के रूप में, कथा के गर्भ से कहता है। उसकी बात से कथा को निकाल दीजिये, तो भी कहने को कुछ बच तो रहेगा, या यह भी मान लें कि थोड़ा ही कुछ नहीं, कई बातें बच रहेंगी जो अपने आप में अवधेय होंगी, धर्म के स्वरूप पर गहराई से मनन करती हुई होंगी। लेकिन फिर भी हमें लगेगा कि मर्म कहीं रिक्त सा हो गया है। बात पूरी बन नहीं रही है। इसका एक कारण है कि **महाभारत** का विचार ही कथा-धर्मी है। और कथा-धर्मी ही नहीं, कथा-मर्मी है। 'कथा-मर्मी' इसलिये कह रहा हूं कि एक मार्मिक अर्थ में धर्म की वात, ख़ासकर जब धर्म को संकट-मय देखा जा रहा हो, धर्म के स्वरूप की ऐसी अन्तरंग बात, कथा में ही सही-सही कही जा सकती है। धर्म में संकट अगर सांस की तरह बसा हुआ है, और हमारे कर्म के प्राण-प्रवाह का अन्तरंग है, तो उसके स्वरूप को प्रकट करने का प्रकार — दूसरे शब्दों में, उस पर 'विचार' — वह भी जीवन की गति के साथ गुंथा हुआ-सा, एकरस सा होना चाहिए। यह बात कथा में ही बन सकती है। इसीलिये **महाभारत** स्मृति

* गतांक से आगे।

होते हुए भी — और उसे स्मृति कहा ही गया है — वह इतिहास-रूपी स्मृति ही है : इतिहास के रूप में ही स्मृति है। दूसरी स्मृतियों से उसका यह भेद सदा स्पष्ट रहा है।

आनृशंस्य को 'परम' धर्म मानने का भी जो इतर स्मृतियों से भेद है वह इसीसे जुड़ा हुआ है। तभी एक बात और है जो **महाभारत** में साफ़ उभर कर आती है। आनृशंस्य का रूप वहां उभरता है तो कथा ही में उभरता है। **महाभारत** का जो विशुद्ध स्मृति-अंश है, नितान्त धर्म-शास्त्र का हिस्सा सा है, उस हिस्से में जो धर्म पर विचार है वहां अन्य धर्म-ग्रन्थों की तरह ही आनृशंस्य का कोई ख़ास हिस्सा नहीं दिखाई देता। कथा-भाग में ही आनृशंस्य का निवेश है। यों कथा के रास्ते, और कुछ-एक ऐसी कथाओं के रास्ते जिन्हें आनृशंस्य की कथा कहा जा सकता है, ऐसे 'कथा-मर्मी' रूप में ही आनृशंस्य के अर्थ और भाव को उभारा गया है।

फिर, आनृशंस्य की कथायें धर्म-संकट के प्रसंग से भी जुड़ी मिलती हैं और इसमें भी एक गंभीर अभिप्राय देखा जा सकता है। धर्म-संकट का मर्म ही ऐसा है कि जीवन के किसी कठिन मोड़ पर स्पन्दित होता है, सांस की सांसत बन जाता है; कहानी के जीवन-स्पन्द में ही उसकी आकृति स्पन्द बन कर जाग सकती है, प्राण-प्रतिष्ठा पा सकती है।

एक बात और है जो मैं समझता हूं आनृशंस्य को समझने के लिये ध्यान में रखने की है। आनृशंस्य प्रवृत्ति का धर्म है। आचरण का, व्यवहार का, शील का धर्म है। वह जीवन के श्रेयस् ही नहीं प्रेयस् को भी अंगीकार करता है। पुरुषार्थ की पुरानी, पर जानी-मानी और सार्थक कोटियों में कहें तो कह सकते हैं कि धर्म यहां काम से युगनद्ध है। यह नहीं कि अर्थ से नहीं जुड़ा है। अर्थ से तो यह विच्छिन्न हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसे अर्थ कहा गया है वह समाज, राज्य, उत्पादन-वितरण की व्यवस्था या तन्त्र का ही दूसरा नाम है। हमारे जीवन का व्यापार अर्थ की धरती पर होता है, उसके बिना अकल्पनीय है। पर अर्थ का जगत् प्रकृति के जड़-जगत् की तरह ही हमारे लिये कुछ पराया-सा, कुछ बाहर का-सा व्यापार है। उसे बनाये रखने के लिये, या कोई नया रूप देने के लिये, वह जैसा है उसे और उचित –'धर्म्य'– रूप देने के लिये हमें निरन्तर उद्यम करते रहना पड़ता है। और यों अर्थ का जगत् हमारा अपना जगत् भी है, तभी पुरुषार्थ का विषय है, सिद्ध नहीं साध्य है। फिर भी एक तरह से है बहिरंग ही। हमारे पुरुषार्थ का बाहरी रूप : शरीर : है, मन या प्राण नहीं। मन-प्राण तो काम है। 'पुरुषार्थ' के नाम से काम कामना, एषणा का ही दूसरा नाम है। उसे स्त्री-पुरुष-प्रसंग के अर्थ में संकीर्ण कर देने की परम्परा रही है, पर वह परम्परा दृष्टि-दुष्ट ही नहीं, भ्रान्त भी है। काम हमारी चाह, इच्छा, साध का नाम है। उसे हमारी जिजीविषा का दूसरा नाम भी कहा जा सकता है। उसके हमारे साथ सौ अन्तरंग सम्बन्ध हैं। काम स्त्री-पुरुष-प्रसंग की ही नहीं जीवन के हर प्रसंग की बात है। तन-मन-प्राण और आत्मा की डोर से बंधे हमारे जितने परस्पर-सम्बन्ध हैं, सभी सम्बन्धों का उससे सरोकार है। हमारे सम्बन्ध ही नहीं, हमारे प्रयत्नों में भी वह बसा है। अपने सम्बन्धों और प्रयत्नों को हम श्रेयस् और प्रेयस् इन दो कोटियों में रखते

हैं या रख सकते हैं। श्रेयस् के सम्बन्धों और प्रयत्नों को हम काम नहीं कहकर 'काम्य' कह सकते हैं, कहते भी हैं : ऐसे जिनकी कामना होनी चाहिए। पर ज़रूरी नहीं कि सचमुच हो ही। मनुष्य के जीवन में 'काम' के साथ 'काम्य' का विचार सहज है : हर काम को हमारा विमर्श-बोध 'यह काम्य है या नहीं' इस परख की कसौटी पर देखने की चाह रखता है।

फिर भी एक चीज़ है। हमारी चाह चाहे श्रेयस् के लिये भी हो तो भी सचमुच 'चाह' हो, केवल 'होना चाहिए' की कोटि में न रहे, यह बात भी हम साधना चाहते हैं। 'धर्मकाम', 'मोक्षकाम', 'श्रेयस्काम' ऐसे प्रयोगों का यही अभिप्राय है। 'धर्मकाम' वह है जिसे धर्म की चाह है। धर्म में जो धर्म को प्रेयस् जानकर प्रवृत्त होता है। यह बात और है कि उसे श्रेयस् भी मानता हो। श्रेयस्काम वह है जिसे श्रेयस् की सहज कामना है, वह नहीं जो श्रेयस् की कामना करना चाहता हो। ऐसे प्रयोगों में 'काम' का अर्थ 'काम्य' की कोटि में नहीं रखा जा सकता। जो कामना का विषय हो, उसके लिये 'कामना का विषय होना चाहिए' कहना ठीक नहीं होगा।

पर हम इस बात को मान भी लें तो भी बात कहीं खटकती ही रहेगी। धर्म, श्रेयस्, मोक्ष इनके साथ 'काम' या 'कामना' की बात ठीक-ठीक गले उतरती नहीं जान पड़ती है। इन्हें कामना का विषय कहना क्लिष्ट-कल्पना सी लगती है। ये 'काम्य' तो ठहराये जा सकते हैं — अगर इनको साधना किसी तरह उचित ठहरे — पर इन्हें 'काम' का नाम देना शब्द-व्यायाम ही ठहरता लगता है। इसलिये कि हमारी चाह की दुनिया ही और है। जो हम सचमुच चाहते हैं वह हमारे प्रेयस् का जगत् — हमारे अपनों का संसार, तन-मन के सम्बन्ध, उसमें उठती इच्छायें, उस संसार को कुछ और अपना-सा, सपनों का-सा, बनाने की चेष्टायें, अपने लिये, अपने प्रिय-जनों के लिये, की जाती साध, साधना, संघर्ष, 'काम' का सम्बन्ध इन्हीं से ठहरता लगता है। उसका सम्बन्ध हमारे दैनन्दिन 'मानव' जगत् से है जिसके अपने सौ अभिनिवेश हैं, जो हमें लगाये, उलझाये रखते हैं। हमारे लगन की, 'चाह' की, यही दुनिया है। काम का तार इसी दुनिया से बँधा बोलता है, चाहे कभी, तार-तार भी क्यों न हो जाता हो। आख़िर 'काम' का ही संसार फिर नाकामी का भी संसार है ही।

'मोक्षकाम' या 'श्रेयस्काम' वह भी हो सकता है जो 'काम' के इस संसार को दुःख या प्रपंच समझता हो या निरर्थक झाड़ और झंखाड़, भूमा-से-सर्वथा विहीन मानता — या जानता — हुआ इसको निर्वेद की दृष्टि से देखना चाहे या देखे। दृष्टि जब ऐसी दिशा ले ले तो श्रेयस् और प्रेयस् की जुगलबंदी टूट जाती है। उनका कोई आपसदारी का सम्बन्ध नहीं बनता। सम्बन्ध कोई बनता है तो परस्पर-निषेध का ही बनता है। 'धर्म-काम' का भी ऐसा मनोभाव हो सकता है या वांछित माना जा सकता है। इस अर्थ में 'धर्म-काम', 'मोक्ष-काम' से भिन्न नहीं होता। मोक्ष-मार्गियों के यहां धर्म वास्तव में वही है जो मोक्ष या निर्वाण की ओर ले जाता हो या किसी ऐसी स्थिति की ओर ले जाता हो जो काम

के जगत् से अलग रहकर ही अपने आप में काम्य है। इसे हमारे यहां निवृत्ति-धर्म कहा गया है, जिसकी हम अब से पहले चर्चा कर भी आये हैं। धर्म का यह मार्ग काम के जगत् को दूर छोड़ता हुआ ही आगे निकलता है।

पर धर्म-अर्थ-काम, इनको जब साथ रखा जाता है और इन्हें पुरुषार्थ की ऐसी त्रिपुटी कहा जाता है ज़िसमें तीनों पुरुषार्थ एक-दूसरे में गुंथे हुए हैं : परस्पर-नद्ध : तब दृष्टि और विचार की दिशा ही कुछ और होती है। इसे ही प्रवृत्ति का मार्ग कहा गया है। धर्म की, औचित्य की बात इसमें भी उठती ही है, पर यहां 'धर्म-काम' होने का अर्थ जिसे हम काम कहते हैं उसका निराकरण नहीं है। न 'श्रेयस्काम' का अर्थ यहां प्रेयस् का परित्याग है। बल्कि प्रेयस् के जगत् में ही श्रेयस् को ढूंढना है या यों कह सकते हैं कि प्रेयस् के ही श्रेयस् को ढूंढना है। ऐसे श्रेयस् को ढूंढना है जो हमारे चाह के संसार के भीतर ही औचित्य की कसौटी बन सके। दूसरे शब्दों में, धर्म यहां काम से युगनद्ध है।

इन बातों को मैं और तरह से पहले भी कह आया हूं। पर इस तरह से कहने में एक प्रयोजन है, जो शायद अब इतना बेमेल न लगे। धर्म और काम के युगनद्ध-भाव की अभिव्यक्ति विशुद्ध विचार में उतनी नहीं जितनी किसी समर्थ कथा के कलेवर में हो सकती है। कथा का संसार मनुष्य को प्रवृत्ति-धर्मी मान कर ही चलता है और उस प्रवृत्ति के कुछ इष्ट-अनिष्टों को सहज ही स्वीकार करता हुआ प्रवृत्त होता है। श्रेयस् और प्रेयस् के एक ऐसे ताने-बाने से कथा-जगत् की भूमि बनती है जिसे कथा-कर्म मनुष्य के स्वभाव में ही सिद्ध सा समझता है। कथा अपने इस वांछित जगत् के स्वरूप का लक्षण और विमर्श नहीं करती, यह सत्य है या मिथ्या या भ्रम, यह विचार नहीं करती और करती भी है तो एक वक्र-भाव के साथ, कथा-धर्म का पालन करते हुए करती है, जहां भ्रम और मिथ्या का बोध जागता भी है तो इस वांछित जगत् की सत्ता का किसी मूलगत अर्थ में वैसा निराकरण नहीं करता जैसा विचार — या बोधि — में सम्भव है, बल्कि इसी में रहते हुए अपनी अनहोनी-सी स्थिति बनाता है। कथा के इस स्वभाव-से-ही प्रवृत्ति-धर्मी जगत् को हम चाहें तो कथा की सहज अभिधा का जगत् कह सकते हैं, इसके मिथ्या या भ्रम होने का बोध इसी अभिधा के सूत्र में बंधी हुई ध्वनि के समान होता है और ध्वनि अभिधा के बिना नहीं बनती।

विचार कथा के इस जगत् को सजीव रूप तो नहीं दे सकता पर इसको आंखों के आगे रखता हुआ इस पर विमर्श कर सकता है। इस जगत् के गुणधर्म का हम विमर्श करें तो इसके तानेबानों के कुछ सूत्र लक्षण के रूप में उभार सकते हैं। कई रंगों के बड़ी अलग-अलग दिशाओं में ले जाने वाले सूत्र हाथ आयेंगे, पर इनके मेल से जो पट बनता है उसकी फिर भी एक अपनी झांईं झलकती दिखती है, जिसकी अपनी आभा में सौ छाया-भेद हो सकते हैं पर जो फिर भी अपनी पहचान रखती है। यह जगत् यों तो हमारे व्यवहार के जगत् जैसा ही है पर बिलकुल वैसा नहीं है। यह सृष्ट जगत् है। हमारे द्रष्टा-भाव के विमर्श में जागता हुआ हमारे अनुभव के लोक को साक्षात् अनुभव से हटाकर

फिर अनुभव का विषय बनाता है। आजकल की कुछ कथाओं का यह आदर्श हो भी कि कथा-जगत् व्यवहार-जगत् की सही झांई बनाये रखे, पर ऐसी कथायें भी एक कथा-लोक ही बनाती हैं और सब कथाओं का यह लक्ष्य नहीं होता कि व्यवहार-जगत् की नकल ही बनें। आज तक के कथा-साहित्य को देखें तो इस लक्ष्य को कथा का सही लक्षण मानने में द्विधा ही आड़े आयेगी। अब हम यह कहने लगें कि आज की ही कथा-विशेष — जिसे हम 'आधुनिक' काल में जन्मी 'यथार्थ'-गर्भी कथा कहते हैं — वही कथा वास्तव में 'कथा' कही जा सकती है या कही जानी चाहिए, तो यह कथा की चिरन्तन प्रकृति के प्रति अन्याय होगा। आज के बहुत से कथाकार भी, जो अब 'आधुनिक' को अपनी समझ में पीछे छोड़ चुके हैं और उत्तर-आधुनिक हो चुके हैं, वे भी इस आग्रह से कुछ तिलमिला सकते हैं। पर कथा चाहे 'आधुनिक' हो या 'आधुनिक' से हट कर कहीं आगे निकल गई हो या एक नई, सारमयी मुद्रा के साथ कहीं पीछे ही लौट गई हो और यों कथा किसी अर्थ में कथा के सही तत्त्व को कुछ ज्यादा संभालती भी हो, तो भी मेरा अभिप्राय इस कथा-विशेष से नहीं, कथा मात्र से है। स्पष्ट ही कथा व्यवहार का नहीं कल्पना का लोक बनाती है। पुराने कथाकार तो निःसंकोच ऐसा करते थे, चाहे बाण जैसे विदग्ध लेखक हों या जिन्हें लोक-कथा कहा जाता है उन्हें कहने-सुनानेवाले कथक हों। पुराने विभाजन में कथा-जातीय पर कथा से भिन्न, आख्यायिका का भी नाम आया है, जो आज के 'यथार्थ'-धर्मी कथा-कर्म की प्रवृत्ति से अधिक अनुप्राणित थी। पर कथा के जिस प्राण की ओर मैं इंगित करना चाह रहा हूं उसका कथा के भीतर के इस भेद से कोई सार का सम्बन्ध नहीं है। हां, इतना शायद फिर भी मानना पड़ेगा कि कुछ कथायें या कुछ कथा-रूप, जैसे नाटक, प्रकरण, महाकाव्य, उपन्यास ये कथा के सार को अधिक समर्थ-भाव से प्रकट करते हैं।

कथा का प्राण व्यवहार नहीं, व्यवहार में जागती हमारी मन-प्राणों की अभीप्सा है, संकल्प है। व्यवहार की कोई सीधी-सच्ची छाया लेकर हम कथा-लोक नहीं बनाते हैं पर जो भी कथा-लोक बनाते हैं, व्यवहार की एषणाओं के पट पर बनाते हैं। लोक जैसा इतिवृत्त — घटना-चक्र — सब कथाओं में न होता हो, पर लोक जैसा भावना-चक्र और संकल्पों का व्यूह वहां होता है, चाहे कैसा ही गप्प जैसा गल्प क्यों न हो। उस भाव-और-संकल्प-लोक के अपने कुछ इष्ट-अनिष्ट हैं : सपने हैं, दुःस्वप्न हैं, आशा-निराशा हैं या सीधी सी बात में यों कहिये, सुख-दुःख हैं, इति-कर्त्तव्यतायें हैं, जो उसके प्राण हैं। लेकिन दुःख हो या सुख, ये दोनों ही एक सार्वजनीन अभीप्सा-मय जगत् को वांछनीय मानकर कथा में अभिव्यक्त होते हैं। यह जगत् ऋजु-सरल रेखाओं से नहीं बना है, कई रंगों को समेटता है, जटिल है, बहुसूत्री है और फिर देश, काल, सुनने-सुनाने वाले पात्रों के भेद से इसमें अन्तर-परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। फिर भी इसकी अपनी पहचान है: देश-काल-पात्र-परिस्थिति के विशेष में डूब कर, उसे उबारते हुए भी — या यों कहें तो ज्यादा अच्छा होगा कि 'उभारते हुए ही' — कथा साधारण और सार्वजनीन होती है। इस पहचान का एक लक्षण यह है कि अन्य देश, अन्य काल, अन्य पात्रों के लिये कही कथा

को हम अनुवाद में भी समझ सकते हैं, संवेदना के साथ उसमें रम सकते हैं, पुरानी कथा को उसका मर्म बचाते हुए आज के अनुकूल ढाल सकते हैं और अगर हमें अटपटी भी लगे, 'रसाभास' ही उत्पन्न करे और हमारी संवेदना को आघात पहुंचाये, तो भी, इस निषेध में भी, उसकी पहचान होगी कथा की ही।

कथा का यह विश्वजनीन रूप इस बात का भी द्योतक है कि हम एक साधारण या सर्व-सामान्य जगत् की चर्चा कर रहे हैं। हम कह सकते हैं कि सामान्य जगत् व्यवहार का भी होता है और व्यवहार के इस सामान्य जगत् का वहन करने के कारण ही — चाहे किसी रूप-भेद के साथ ही क्यों न हो पर उसी मूल के कारण ही — कथा के जगत् में सामान्य-भाव होता है और मूलतः वैसा ही होता है। पर अन्तर है। दो अन्तर हैं जो यहां हमारे काम के हैं। एक को, मैं समझता हूं, यों समझा जा सकता है : व्यवहार का जगत्, माना, सबके लिये किसी रूप में सामान्य होता है, पर उसमें मेरा अपना मनोनिवेश बड़ा विशेष होता है, मेरे अपने 'स्व' के भाव, चेष्टा, अभीप्सा से जुड़ा रहता है। मेरे अपने मन-प्राण की गांठ उसकी डोर के साथ बड़ी गुलझट से बँधी होती है। कथा के जगत् से मैं कितना ही एकाकार क्यों नहीं हो जाऊं, फिर भी एक परस्थ बोध उजागर रहता है। मैं अपने ही चरित को कथा के रूप में सुनूं, तो भी यह परस्थ बोध लुप्त नहीं होगा।

यही परस्थ बोध, जिसे हमारी संवेदना बड़े आत्मीय भाव से स्वीकारती है, इसी के आधार पर व्यवहार और कथा का दूसरा भेद टिका हुआ है। कथा में एक आदर्श का गर्भ होता है। 'है' का ही नहीं, 'होना चाहिए' का भाव होता है, चाहे प्रच्छन्न ही क्यों न रहता हो। बल्कि प्रच्छन्न होने के कारण ही और भी तल-स्पर्शी, मर्म-स्पर्शी होता है, बोध की जड़ों तक उतर जाता है। हमें उसमें हमारा 'मानव'-जगत् ही नहीं, 'मानवोचित' जगत् भी दिखता है। हां, सीधे-सीधे सामने खड़ा-सा कम ही दिखता है; अकसर बड़ी आड़ में से झांकता दिखता है और तभी बड़ी गहरी छाप छोड़ जाता है। उसका यह मन को भीतर से रंगना उस कथा में और भी तीखा, मंजीठे रंग रंगा होता है, जिस कथा में हमारा मानवोचित जगत् टूटता, ध्वंस होता हुआ दिखता है, जैसे ट्रैजडी में; या महाभारत की उस जीत में जिसे युधिष्ठिर ने हार ही कहा था। ऐसी कथाओं में, 'ऐसा नहीं होना चाहिए' का बोध 'होना क्या चाहिए' के औचित्य-बोध को और गहरे सींच जाता है। पर इसका आशय यह नहीं समझना चाहिए कि कथा में 'क्या होना चाहिए' इसकी कोई स्पष्ट, विवेचना के लिये साफ़-साफ़ झलकती तस्वीर कभी पूरी तरह से उभरती दिखती है और विचार के लिये परिनिष्ठित प्रत्यय बना सकती है। विचार के सामान्य में कथा जैसा विशेष का सजीव, अपरोक्ष बोध नहीं होता। कथा यह सम्भव बना सकती है कि हम देश-काल-पात्र-परिस्थिति के सूक्ष्म अन्तरंग भेदों के भीतर झांकते हुए साधारण धर्मों की विशेष गतियों की, गति-भेदों की टोह ले सकें। धर्म को अगर गुहा-निहित कहा जाता है तो एक कारण यह भी है कि साधारण धर्म का लक्षण जितना व्यापक और सामान्य हो, उसके देश-काल-पात्र-परिस्थिति-विशेष में प्रयोग की समस्या उतनी ही कठिन हो सकती

है; और इस बात का जैसा आविर्भाव कथा में हो सकता है, किसी विवेचना में नहीं। आगे उदाहरण से बात को कुछ और उभारने की चेष्टा करूंगा।

फिर भी कथा के कुछ ऊह्य तत्त्व होते हैं, जिन्हें हम चाहें तो कथा का सनातन पक्ष कह सकते हैं। ये कथा के आधार हैं; कथा की धरती हैं। इन्हें 'रस' के मार्ग से सामने लाने की चेष्टा करता हूं। कह चुका हूं कि कथा अपने मर्म में ही प्रवृत्ति-प्राण होती है। उसके होने के पीछे यह बोध — या शायद यह आस्था या श्रद्धा कहना ज्यादा अच्छा होगा — यह रहता है कि हम स्वभाव से ही प्रवृत्ति-धर्मी हैं और प्रवृत्ति के इस जीवन में कुछ रस, कुछ आनंद के ऐसे सहज ठिकाने हैं जहां मन-प्राण को अपना घर मिलता है। जो कथा किसी भी सार्थक भाव से कथा-रस की सृष्टि करते हुए, जीवन के प्रति निर्वेद जगाती है या दुःख और अन्याय या भंगुरता के भाव से हमें झिंझोड़ कर इन ठिकानों के तले से ज़मीन ही खिसका-सी देती है, वह कथा भी अपनी 'करुण' या 'भयानक' या 'वीभत्स' संवेदना का उपादान इन ठिकानों में ही पाती है।

रस की दृष्टि से कथा में प्रवेश कुछ पैठ दे सकता है। पुराने चिन्तक कथा को वाणी से और प्रयोगों से रस के आधार पर ही अलग करते थे। रस को अनेक ही कहा गया है और उनमें भेद स्पष्ट है। प्रश्न हो सकता है कि भिन्न रसों में कोई अनुगत धर्म है भी क्या? पर मैं यहां बात को 'एक रस' की ओर ले जाना चाहता हूं और उधर भी हम सार्थक भाव से बढ़ ही सकते हैं। रस मात्र में 'आस्वाद' माना ही गया है। 'रसो वै सः' में भी रस की बात है। परम तत्त्व को ही रस-मय कहा गया है। पर यह रस लोक की ओर नहीं, लोकोत्तर की ओर इंगित करता है। कथा की चर्चा में जिस रस की बात हुई है वह लोक-प्राण ही है। इसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कह देते हैं; पर सहोदर कहना, 'वही' न कहना, यहां उस भेद की ही बात करना है जो लोक और लोकोत्तर के बीच है।

कुछ ऐसे पुराने आलंकारिक हुए हैं जिन्होंने यह विचार किया है कि रसों के अनैक्य के पीछे वह कौन-सा रस है जो रस मात्र का प्राण है : रस का रस है। कई उत्तर दिये गये हैं और सभी में सहृदय-बोध की गहराई है। अभिनव गुप्त कथा को शांत की धरती पर टिका देखते हैं; उसे ही रसों का रस मानते हैं — अभिनव ने बात नाट्य की की है, कथा की नहीं, पर बात वहीं आकर ठहरती है। राजा भोज ने शृंगार को परम रस कहा है, और विश्वनाथ कहते हैं कि उनके पितामह अद्‌भुत को रसों का रस मानते थे। भवभूति का स्वर इन सबसे कुछ अलग है और शायद तभी उन्नीसवीं सदी के बंगाल की रोमान्टिक कल्पना उसमें अपने स्वर का अनुरणन सुन पाई थी। भवभूति ने कहा था कि एक एव रसः करुणः। इस बात से इनकार करना कठिन लगता है कि इन सभी दृष्टियों में एक पैठ है, चाहे मन किसी दृष्टि विशेष से अधिक आकृष्ट होता हो। पर एक कुतूहल मन में जाग सकता है। किसी ने वीर, रुद्र या वीभत्स को परम रस क्यों नहीं समझा? या हास्य को? नौ रसों में किसी रस-विशेष को 'एकरस' कहने की जो परिपाटी बनी थी उसकी तह में बोध यह दिखाई देता है कि सभी रस हालांकि भिन्न हैं, पर भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे

में अनुस्यूत हैं। इस तरह से अनुस्यूत हैं कि कोई एक रस धागा बनकर उनको एक में पिरो सकता है, अपने रंग में सबको रंग सकता है। या शायद यों कह सकते हैं कि रस का परमार्थ रस-भेद के परे नहीं है, बल्कि ऐसा है कि रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव की तरह ही हर एक रस अपनी अलग पहचान रखते हुए भी रस के परमार्थ को अपने में पूरी तरह सहेज लेता है। वैसे ही जैसे हर देवता भिन्न होते हुए भी देवत्व में पूर्णमिदम् होता है; यह बात और है कि किसी का इष्ट-देव देवता-विशेष ही होता है और वह अपना विशेष स्वभाव-स्वरूप भी रखता है।

पर क्या सभी रस इष्ट-रस हो सकते हैं? वीभत्स या भयानक या रौद्र या वीर के बारे में भी क्या यह कहा जा सकता है कि ये भी रसों के रस हैं? वीर को शायद गिनती में रखना असंगत न लगे। उत्साह, जो वीर का प्राण है — या पुराने शब्दों में कहें तो 'स्थायी-भाव' है — उसके मर्म में भी एक वैसी ही व्याप्ति है जैसी शृंगार या करुण में; वह भी यहां एक 'एक-रस' की गिनती में अभिप्रेत हो सकता है। बात को समझने के लिये हम पुराने गिनाये गये एकरसों को दो हिस्सों में बांट सकते हैं। शृंगार और करुण की एक कोटि बनती दिखाई देती है, शांत और अद्‌भुत की दूसरी। यह जो भेद मैं कर रहा हूं उसके पीछे युक्ति सीधी सी है। शांत और अद्‌भुत का सम्बन्ध कथा के अपने जगत् से, अपने रस से, उतना नहीं जितना और भी व्यापक शिल्प या कला-जगत् से है। कोई भी कृति शिल्प या कला के रूप में हमारे लिये उपस्थित होने के लिये ही हमारे बोध में एक ऐसी वृत्ति की अपेक्षा रखती है जिसमें शांत और अद्‌भुत के लक्षण देखे जा सकते हैं। कला मात्र का कला के रूप में बोध भाव की एक ऐसी द्रष्टा की सी दृष्टि या तटस्थ से भाव को समोये रहता है जिसके बिना बोध को कला या शिल्प का बोध कहने में ही असमंजस होगा। यही रस-बोध मात्र में शांत का बीज है। कोई कह सकता है कि जिस तरह शांत को मैं यहां आंक रहा हूं वह आलंकरिकों का शांत नहीं है। आलंकारिकों ने निर्वेद को शांत का प्राण या स्थायी-भाव कहा है और निर्वेद को हम द्रष्टा या तटस्थ का भाव नहीं कह सकते। निर्वेद का अपना एक निवृत्ति का स्पंद होता है जिसका विषय लोक होता है; एक पीछे हटती हुई गति का वेग होता है जो द्रष्टा-भाव की कल्पना में नहीं है। पर इस अर्थ में शांत को क्या रसों का रस कहा भी जा सकता है? रस मात्र में शांत के ऐसे निर्वेद-मूल भाव की अनुभूति नहीं होती है। बल्कि मैं समझता हूं, उलटी ही होती है। इसकी चर्चा करूंगा।

अद्‌भुत को लीजिये। कला चेतना में एक चमत्कार का बोध जगाती है। विस्मय का एक द्वार सा खोल देती है। यही रस मात्र में अनुस्यूत अद्‌भुत का पसारा है। वरना जिसे भरत में अद्‌भुत समझा गया है उसे ही 'एकरस' कहना चाहें तो बात बिगड़ ही जायेगी। भरत के लिये अद्‌भुत का अर्थ था किसी ऐसी अनहोनी बात का हो जाना जो किसी कथा में दुःखांत की ओर अपनी संगत और स्वाभाविक गति से बढ़ते हुए घटना-चक्र में अचानक एक ऐसा मोड़ ला दे कि सब कुछ ठीक हो जाये। दुःख सुख में बदल जाये।

ऐसी दैवी चमत्कार जैसी अघटना का सहसा घट जाना ही अद्‌भुत कहा गया है। ऐसे अद्‌भुत से तो सहृदय के लिये अकसर कथा का रस-सूत्र ही टूट जा सकता है, विस्मय-बोध की जगह कथा ही के प्रति निर्वेद जाग सकता है। इस अद्‌भुत को ही अगर विश्वनाथ के दादाजी ने रसों का रस कहा है तो उसकी चर्चा हमारे काम की नहीं है। पर उनका अभिप्राय कुछ भी रहा हो, अद्‌भुत को हम उस अर्थ में सार्थक 'एकरस' मान सकते हैं जिस अर्थ की मैंने पहले चर्चा की है : कला मात्र के अनुभव में जो विस्मय का भाव जागता है, वह अद्‌भुत के एकरस होने का बीज है।

पर इस कला-मात्र-में-व्याप्त अर्थ में क्या हम करुण को भी 'एकरस' कह सकते हैं? शायद कोई पहलू निकाला जा सकता हो, पर अनायास तो ऐसा कहने को मन गवाही नहीं देता। मेरा मन तो नहीं दे रहा है। लेकिन ऊपर हमने एकरसों की दो कोटियां बनाई थीं : कला-मात्र-में-व्याप्त और कथा-मात्र-में-व्याप्त। करुण को हमने दूसरी कोटि में रखा था। क्या कथा-मात्र-में-व्याप्त होने के अर्थ में करुण को 'एकरस' नहीं कहा जा सकता? मैं समझता हूं कि कहा भी जा सकता है तो इस अर्थ में कि करुण के बिना कथा पूरी जमती या खिलती नहीं प्रतीत होती। या इस अर्थ में कि करुण रस की कथा ही सहृदय को कथा का पूरा रस देती है। भवभूति का यही आशय लगता है। पर यह बात और है; इससे करुण में 'एकरस' होने का गुण नहीं आ जाता। लेकिन शृंगार को क्या कहेंगे? भवभूति ने तो अपनी बात एक सूत्र के से चुभते हुए वाक्य में कहकर छोड़ दी है, लेकिन भोज ने शृंगार को एकरस सिद्ध करने के लिये अपना लम्बा-चौड़ा विवेचना का धनी **शृंगारप्रकाश** ग्रंथ लिख छोड़ा है।

पर भोज ने शृंगार को जिस अर्थ में लिया है, वह जहां तक सार्थक है उससे मैं समझता हूं, शृंगार 'रस' का ही पयार्य हो जाता है। शृंगार की बीज रति को भोज चेतना में व्याप्त उस आनन्द-बीज से जोड़ते से लगते हैं जो कथा को आस्वाद का विषय बनाती है और यों उनका शृंगार अपनी अलग पहचान खो देता है। 'एकरस' का हमने यह लक्षण नहीं रखा था कि वह अपने स्वभाव से ही च्युत कर दिया जाये।

फिर भी एक प्रश्न उठाया जा सकता है। क्या हम और रसों का भी वैसा अर्थ-विस्तार कर सकते हैं जैसा भोज ने शृंगार का किया है? कई रसों के साथ बात अटपटी ही लगेगी। यह तो शायद असमंजस नहीं होगा कि हम एक नये सहृदय बोध के साथ रौद्र, भयानक, वीभत्स या हास्य को एक नये व्याप्ति-बोध के साथ एकरस के रूप में रखने या देखने की बात करें जो पुराने सहृदयों ने नहीं की है; उनके लिये शायद यह बात कल्पना के बाहर थी। वीर के बारे में ज़रूर जिज्ञासा होती है कि वीर को किसी ने रसों का रस क्यों नहीं कहा। वीर एक प्रधान और व्यापक रस था; भरत के लिये तो स्पष्ट ही लगता है कि वीर और शृंगार ये दोनों बड़े रस थे। नाटक और प्रकरण, जिनमें वे मानते थे कि नाट्य पूरी तरह से खुलकर निष्पन्न होता है, उनमें वीर या शृंगार का प्राधान्य रखा गया है। परम्परा में भी वीर की व्याप्ति को देखा गया है : उसके युद्धवीर ही नहीं, धर्मवीर,

दानवीर जेसे रूपभेदों की कल्पना की गई है और स्वाभाविक भी है। वीर का प्राण उत्साह है और उत्साह एक ऐसा व्यापक भाव है जो भिन्न दिशाओं में व्यापृत होता ही है। कथा जहां तक मनुष्य के कर्म और चरित का अनुकीर्तन और अनुभावन करती है, उसमें उत्साह का और यों वीर का एक प्रमुख स्थान स्पष्ट है। शृंगार में भी एक उत्साह की स्फूर्ति रहती ही है। रौद्र, जिसका बीज अन्याय के प्रति क्रोध है, उसमें तो उत्साह की लय और द्रुत हो जाती है।

लेकिन वीभत्स, भयानक — और साथ ही हास्य भी — किसी और ही धातु के बने जान पड़ते हैं। जान पड़ता है कि इनका रस मानो विरस में डूबा-सा है। ये रस के रसत्व को बनाते नहीं, तोड़ते से लगते हैं। ये विवादी स्वर की तरह हैं। कथा को अगर गायकी के रूप में देखा जाये तो पुरानी कथा-गायकी में और आज की भी उन कथाओं में जिनको 'सरस' कहा जा सकता है, उनमें भी, इनका प्रयोग स्वल्प ही होता है। सावधानी से इनका पुट दिया जाता है। अचम्भा नहीं कि वीभत्स, भयानक और हास्य के साथ नाटक या फ़िल्म में जो संगीत की संगत होती है, विवादी स्वरों पर बहुत निर्भर करती है। कभी ध्यान दीजियेगा।

दूसरी ओर ऐसी भी कथायें आज पहले से बहुत अधिक हैं जिन कथाओं में एकरस की बात उठायें तो वीभत्स, रौद्र और भयानक ही की तरफ़ ध्यान जाता है और इस गिनती में ऐसी भी कथायें आती हैं जो विशिष्ट सहृदयों में ही नहीं लोक में भी प्रिय हैं। सस्पेंस की कथाओं में भयानक का सूत्र लगभग अंत तक बनाये रखने की चेष्टा होती है। वीभत्स का आज कुछ वैसा ही कथा-लोक में स्थान है जैसा पहले शांत का था, अगर शांत का बीज निर्वेद को मानें। इस पुराने शांत में और आज के वीभत्स में मुझे अन्तर यह लगता है कि शांत के मुँह मोड़ने में एक वितृष्णा तो होती है पर उसमें घृणा का वह बोध नहीं होता जो वीभत्स का हृदय है — बल्कि 'घृणा' की जगह 'घिन' कहना ज्यादा सही होगा, क्योंकि संस्कृत के शब्द में वह तीखी कड़वाहट नहीं है जो बोध में बरबस उभर आती है। साथ ही एक अजीब-सी, और अभी जो मैंने कहा उसको बिलकुल काट-सी देनेवाली, एक दूसरी बात भी माननी होगी : आज वीभत्स के जो अनगिनत रसिक हैं, उन्हें 'हॉरर' के नाम से परोसे जाते जिस वीभत्स का चाव है, उसमें उन्हें वितृष्णा का बोध होता नहीं लगता; और घिन भी सचमुच आती है क्या? — आती भी है तो ऐसी मीठी-मीठी-सी आती है कि बार-बार आस्वाद की चाह जगाती है।

'हॉरर' फ़िल्मों के वीभत्स को हम में से कुछ-एक लोग वीभत्स जैसी ही जुगुप्सा की मुद्रा के साथ रुचि की विकृति कहकर टालना भी चाह सकते हैं — या उसे 'भयानक' मानते हुए संस्कृति की इस 'अमानुषी' परिणति से कभी भयभीत भी हो सकते हैं। मैं स्वयं क्या सोचता हूं, अपने मत को यहां प्रकट नहीं करूंगा, उसकी ज़रूरत भी नहीं; पर एक बात कहूंगा। वीभत्स का जो लोक-रंजन वाला 'वीभत्स' रूप है, आज के कथा-लोक में उसका बड़ा स्थूल-सा रूप है। पर उसका एक सूक्ष्म रूप भी है, जिसे 'विदग्ध' और

'अभिजात' जैसे शब्दों से तोला जा सकता है और संस्कृति मात्र के कई स्थूल रूपों की तरह इसे भी सूक्ष्म-जीवी कहा जा सकता है : स्थूल का होना सूक्ष्म पर निर्भर है। हम देखते हैं कि आज के शिखर-शायी कथा-साहित्य में भी वीभत्स का प्रकाश प्रखर है। इसीलिये ऊपर कहा था कि पुराने लोगों में ज़ो महिमा शांत की थी आज के दीक्षित सहृदय के लिये वीभत्स की है। आज का निष्णात, रस-सिद्ध, युग-बोध-के-विष-से-नीलकण्ठ बना कथाकार, जगत् के प्रति जो वितृष्णा का भाव पालता और जगाता है उस भाव में शांति का कोई स्थान नहीं, वह वीभत्स की ग्लानि और घृणा जैसे बोध से ही अधिक प्रेरित लगता है। सार्त्र की कुछ रचनायें अनायास ध्यान में आती हैं और काफ़्का की; पर उनकी चर्चा में यहां नहीं जाऊंगा। यों ही बात में काफ़ी भटकाव आ गया है।

पर जो बात मैंने यहां उठाई है वह हास्य की चर्चा के बिना पूरी हुई सी नहीं लगती है। इसलिये उस पर कुछ कहता हुआ आगे बढ़ूंगा। पहला ही प्रश्न उठता है : क्या हास्य को हम एकरस कह सकते हैं? क्या वह रस की कोटि में आ भी सकता है? और रस है तो क्या कला मात्र उसका पसारा है? रस है तो रसों में हास्य को हम कहां रखेंगे, निवृत्ति-परक रसों में या प्रवृत्ति-परक रसों में? समस्या यहां यह लगती है कि हास्य दोनों में से किसी में ठीक समाता नहीं दिखता। हास्य में निःसंग द्रष्टा-भाव होता है जो उसे निवृत्ति की ओर ले जाता दिख सकता है। भारत में तो शायद नहीं, पर अन्यत्र, जैसे जापान की 'ज़ेन' (संस्कृत 'ध्यान' से निकला शब्द है और उसकी ध्वनि रखता है, यों 'ध्यान') कहलाने वाली बौद्ध साधना में बोधि-चित्त के विराग-बोध में जागते निर्ग्रन्थ, उन्मुक्त भाव के साथ हास्य का सहज संयोग है। भगवान शिव के अट्टहास की याद दिलाता है। पर 'ज़ेन' ध्यानियों का यह हास्य-भाव अध्यात्म साधना में विरल है। अपवाद जैसा ही लगता है। भरत तो हास्य को शृंगार के साथ जुगलबन्दी में भी जोड़ते से जान पड़ते हैं। रीति-प्रीति के विलास के साथ हास्य का सहज सम्बन्ध है ही। और कहना न होगा कि इस आनन्द-भाव में विराग नहीं, अनुराग का ही स्वर बोलता है।

हास्य में और भी स्वर जागते हैं जो निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के रंग में रंगे जान पड़ते हैं। योग और भोग इन दोनों की उच्छ्वलता ही हास का रूप नहीं लेती, हास्य में कड़वाहट का विष भी हो सकता है। व्यवहार में हो या नाट्य में, हम अगर किसी के साथ नर्म और विनोद की मीठी, चुटकीदार, चटखारा लेती हंसी हंसते हैं, उसके सुख में सुखी होते हुए, तो किसी पर चोट करते हुए ठहाका भी लगाते हैं, व्यंग्य में उसका मज़ाक बनाते हुए। थोड़ी सी भी अनुभव की टोह लेकर देखें तो पायेंगे कि हंसी का साथ लगभग सभी भावों के साथ हो सकता है : हास्य भयानक भी होता है, रौद्र भी, वीभत्स भी। तो क्या हास्य को हम शान्त की तरह का कथा-मात्र-में-व्यापी 'एकरस' कह सकते हैं? ऐसा कहने का लालच भी होता है। पर क्या ऐसा कहना उचित होगा? कहें भी तो एक बात और है, 'एकरस' के रूप में हास्य और शान्त में एक बड़ा अन्तर है जो बात पर कुछ सोचते ही प्रकट हो जाता है। ऊपर हमने देखा शान्त सहृदय की दृष्टि को एक

तटस्थ भाव देते हुए कथा-मात्र में ही नहीं, कला-मात्र में व्यापक होता है। हास्य व्याप्ति, स्पष्ट ही, कथा तक सीमित है, या कला के उन रूपों तक जिनमें लोक का अनुकर होता है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी न किसी तरह भाषा के विषय हो सकते हैं। 'अमू : 'अमूर्त्त' शब्द का प्रयोग तो कर रहा हूं : शब्द चल सा पड़ा है पर शब्द बहुत ठी नहीं है, असंगत है। शब्द का मूल शायद अंग्रेज़ी का 'एब्स्ट्रेक्ट' शब्द है। कुछ अंग्रे लेखन में अनुकरण-भिन्न कला को 'एब्स्ट्रेक्ट' कह देने का चलन है। पर किसी कृति 'एब्स्ट्रेक्ट' कहना उसे अनुकरण की कोटि से बाहर निकालना नहीं है क्योंकि 'एब्स्ट्रेक लोक, या जिसे आज 'यथार्थ' कहते हैं, उसी से किया जाता है : 'एब्स्ट्रेक्ट' वह क्रिया जो कहीं से कुछ निकालती है, सार के रूप में निकालती है; और जो 'सार' यहां शिल्प-च में अभिप्रेत होता है, किसी न किसी अर्थ में यथार्थ का ही सार होता है। यथार्थ माना जाता है और उससे निकला 'एब्स्ट्रेक्ट' उसी की एक अधिक 'सारभूत' माने ज वाली मूर्त्ति प्रस्तुत करता है, वह अमूर्त्त नहीं होता, और 'एब्स्ट्रेक्शन' तो एक गहरे अ में शिल्प मात्र का प्राण है, अनुकरण-प्रधान कलाओं में भी होता ही है। अनुकरण अलग करने वाला व्यावर्तक लक्षण — या शब्द — नहीं हो सकता। और अमूर्त्त वास्तव में कोई कला नहीं होती; कला तो मूर्त्त की ही साधना है। शायद रस को 'अमूर्त्त' कह सकते हैं, पर वह और बात है। यहां उसका प्रसंग नहीं। कहलाने वाले शि में शान्त की उपस्थिति का अनुभव तो होता है पर हास्य का नहीं। हास्य का विषय लो है, मानव-लोक, और उसकी उपस्थिति ऐसी कलाओं में ही होती है जो लोक-प्राण हो हैं। लोक से असम्पृक्त शिल्प या कला में नहीं।

पर हास्य चाहे कथा-मात्र तक सीमित हो, शान्त से तुलना कर के देखें तो शान्त तरह ही उसमें भी एक निःसंग द्रष्टा-भाव की प्रतीति होती है। पर कहना न होगा एक-सी नहीं होती। दोनों में जो भेद मुझे सूझ रहा है, प्रकट करता हूं। शान्त का तटस्थ-भ हमारे सम्पूर्ण बोध का तटस्थ-भाव है, हमारी पूरी चेतना को समेटे रहता है। पर हा का तटस्थ भाव बुद्धि ही का तटस्थ-भाव लगता है। यह सच है कि वह केवल बुद्धि ही वृत्ति नहीं है; क्योंकि बात बुद्धि ही की होती तो हास्य को रस की कोटि में रखते असंगति आड़े आती दिखती। पर हास्य भावना की भी वृत्ति है। नहीं तो रस के स उसका कोई सम्बन्ध ही सम्भव नहीं था। पर सम्बन्ध तो बनता है; कई सम्बन्ध बनते हास्य हर रस का साथ ही नहीं देता उसके स्वरूप-स्वभाव में एक 'विशेष' जोड़ता है हास्य का अपना 'भाव' — या 'स्वभाव' — कहला सकता है।

पर उसका स्वभाव कुछ अटपटा, बेमेल सा ही है। कहीं भी रखें, अलग खड़ा देता है। दूसरे भावों के साथ रखकर हास्य को हम देखते हैं तो वह भावना से अधि बुद्धि ही की बात जान पड़ती है। शान्त के तटस्थ-भाव के साथ उसको तोल कर जां तो प्रतीति यही कहती है कि शान्त का पलड़ा बुद्धि की ओर नहीं भाव की ओर झुक है, शान्त का तटस्थ-भाव जिस तट पर बैठ कर भावना के प्रवाह देखता है, वह भाव

ही की भूमि को छोड़ता नहीं है। हास्य का पलड़ा बुद्धि की ओर झुकता जान पड़ता है। हास्य के निःसंग-भाव में बुद्धि का प्रवेश अधिक है। बात को समझाने के लिये एक उपमा सी देता हूं और कोई विमर्श सूझ नहीं रहा। हास्य में भावना और बुद्धि के बीच एक विचित्र सा सेतु बनता है, जो भावना तक हमें पूरी तरह ले नहीं जाता। हास्य में कहीं न कहीं किसी असंगति का, असमंजस का, समन्वय के अभाव का बोध जागता रहता है; एक विवादी स्वर का ऐसा बोध जो स्वर की तरह भाव में जागता हुआ भी बुद्धि के अधिक निकट जान पड़ता है। भरत ने हास्य के लक्षण में 'विपरीत' या 'विकृति' शब्दों का प्रयोग किया है, जो यहां बुद्धि ही के प्राधान्य को सामने लाते हैं। इस प्राधान्य का एक और इंगित इस बात में भी है कि हास्य का अपना कोई स्वयंभू स्थायी-भाव नहीं होता; हास्य दूसरे किसी भाव के साथ ही रहता है। भरत ने 'हास' को हास्य का स्थायी-भाव कहा है। पर 'हास' का लक्षण करें तो अन्य भावों से विलक्षण, अपने आप में भाव कहलाने लायक कोई स्वतन्त्र भाव हाथ में आता नहीं प्रतीत होता। क्रोध, रति, जुगुप्सा, भय, शोक, उत्साह, विस्मय इन स्थायी-भावों में एक आवेग-मय, हृदय को अपनी मुट्ठी में ले लेनेवाला स्पन्द होता है, जिसे हम 'भावना' कहते हैं, यह 'हास' में होता है क्या? भावना अगर हृदय को डुबाती सी लगती है तो हास उलटा ही काम करता है, जैसे उबार रहा हो।

पर हास स्थायी-भाव हो या न हो, एक ऐसी स्थायी वृत्ति या प्रवृत्ति तो है ही जो भावों का साथ दे सकती है। उसका यह साथ देना दो तरह का हो सकता है। इस प्रकार-भेद को हम उन दो धारणाओं में तोल सकते हैं जिनके आधार पर हमने यहां रसों में ही प्रकार-भेद किया है : प्रवृत्ति और निवृत्ति। भरत ने भी हास्य के कई भेद किये हैं। ये भेद मात्रा के भेद हैं, प्रकार-भेद नहीं। पर रस को हम उन विभिन्न भावों के आधार पर बांटें जिनके साथ हास्य को रखा जाता है तो रस-भेद के आधार पर हास्य में भी प्रवृत्ति का भेद आ जायेगा। इस तरह के विभाजन का संकेत ऊपर आ चुका है। हो सकता है कि एक एक भाव और उसके एक एक तेवर के साथ हास्य को रख कर देखें तो हास्य के अपने तेवर पर और भी गहरा प्रकाश पड़े। पर इस रास्ते हास्य की अपनी पहचान आसानी से या संक्षेप में उभरती नहीं दिखती। उभरेगी तो बड़ी लम्बी विवेचना के बाद। ऐसी किसी विवेचना में यहां नहीं जाऊंगा। पर हास्य को रसों के साथ रखकर मोटे तौर पर प्रवृत्ति-निवृत्ति के आधार पर बांट दें तो उसकी पहचान क्या, इस बात को कुछ तो भांप सकेंगे हम। हास्य के लिये अभी मैंने सेतु का रूपक लिया था। फिर से लेता हूं। हास्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच भी सेतु पर खड़ा सा लगता है। दोनों ओर मुंह किये खड़ा है। उसे दोनों ओर ले जाया जा सकता है। इस गुण में उसका बुद्धि से मेल है। विचार की तरह वह जगत् को सत् मानने की ओर भी बढ़ सकता है और मिथ्या मानने की ओर भी। पर क्या ऐसा करते हुए अपनी इस चाल को भी निष्पक्ष, निस्तरंग भाव से अलग खड़ा देख सकता है? शायद नहीं। वह ऊह नहीं है। तभी वह भाव है विचार नहीं। वह सत्य-मिथ्या का विमर्श नहीं करता। प्रवृत्ति-धर्मी भावों के साथ प्रवृत्ति

की ओर झुक जाता है, निवृत्ति-धर्मी भावों के साथ निवृत्ति की ओर। फिर उसकी अपनी पहचान क्या है?

मैं समझता हूं कि हास्य की अपनी कोई पहचान है तो निवृत्ति के ही रंग में रंगी हुई है। विरागी शिव का, सृष्टि को समेटते शिव का, अट्टहास है हास्य। इस बात से इनकार नहीं करता कि प्रवृत्ति-धर्मी रसों के साथ, जैसे शृंगार या वीर के साथ हास्य का पुट इन रसों की पुष्टि ही करता है, ज़रूरी नहीं कि विवादी ही बने। शृंगार, वीर और रौद्र में हास्य की ऐसी मुद्रा भी होती है जहां हास्य प्रधान रस के भाव को गहरा करता है। अन्याय के प्रति क्रोध रौद्र का स्थायी हो तो अन्यायी को हास्य का आस्पद बनाना रौद्र के स्थायी की बनुवाट को और गफ बनाता है, कस देता है। तो फिर आप पूछेंगे कि हास्य को निवृत्ति के साथ बैठाने का क्या मतलब?

अभी मैंने गौण-प्रधान भाव की बात की। हास्य जहां गौण होता है, दूसरे रसों में अपना स्थान खो देता है। पर हास्य प्रधान भी हो सकता है। आपत्ति हो सकती है कि हमारे ऊपर के विवेचन से यह बात निकलती नहीं दिखाई देती : हास्य का जब कोई अपना स्थायी भाव नहीं, जब हास्य अपने आप में भाव और बुद्धि के बीच त्रिशंकु सा बना है या किसी सेतु पर खड़ा है, तो उसका प्राधान्य होगा कैसे? उत्तर में कहूंगा कि इसका मतलब यही है कि विवेचन को स्थायी-भाव जैसी कोटि के दायरे से ही निकलना होगा। वरना हास्यप्रधान लेखन को क्या हम साहित्य के घर से निकाल देना चाहेंगे? ऐसे कथा-लोक बनते ही हैं जहां हास्य प्रधान होता है और आजकल तो ऐसे बहुत बनते हैं; बड़ी बारीकी और गहराई के साथ बनते हैं। ये एक विचित्र सी बात पैदा करते हैं। एक स्वतो-विच्छिन्न जगत्-बोध में जन्मे जान पड़ते हैं। कई आलोचक और चिन्तक इसी में 'आधुनिक' उपन्यास का कथा-बीज देखते हैं। अपने होने को विडम्बना जानते हुए कौतुक के भाव से देखना 'आधुनिकता' का एक प्रकार है। यही हास्य का स्थायी होना भी है। 'विडम्बना' अपने मर्म में भरत के 'विपरीत' और 'विकृत' की सहोदरा है। विडम्बना के इस स्थायी को हम भाव नहीं कह सकते। यह मनोवृत्ति रस की ओर उन्मुख नहीं होती। बल्कि रस में जो समां बंधता है, उसके तार को झकझोरती रहती है। इसे भाव न कहें, मनोवृत्ति कहें या कुछ और कहें, इसकी आंख निवृत्ति की दिशा में ही उठी रहती है।

बात को मैंने तूल जिस प्रयोजन से दिया है उस पर आता हूं। मैं समझता हूं कि कथा में हमारा रस-बोध, जगत् के — मानव जगत् के — एक आदर्श को अपने गर्भ में समोये रखता है : इस बोध के पीछे एक आधार-भूत धारणा रहती है, चेतना में गहरे समाया हुआ एक अपनी तरह का ऊह रहता है कि मानव-जगत् ऐसा होता है और ऐसा होना चाहिए। 'होता है' — या यों कहिये कि, 'है' और 'होना चाहिए' की धारणायें, इस बोध में एकमेक होकर एक-दूसरे में गुँथी होती हैं; इस तरह यों युगनद्ध होती हैं कि एक-दूसरे के स्वभाव-स्वरूप को बनाती हैं। यही धर्म-अर्थ-काम की परस्पर-नद्ध त्रिपुटी का

लोक है, जिसमें श्रेयस् और प्रेयस् भी एक-दूसरे को बनाते चलते हैं; जहां श्रेयस् और प्रेयस् एक-दूसरे से भिन्न और विपरीत नहीं हैं। आदमी को यों होना चाहिए, क्योंकि ऐसा वह है — मनुष्य के रूप में 'ऐसा' है; **वास्तव** में 'ऐसा' है, **स्वरूप** में 'ऐसा' है, चाहे सदा ऐसा न भी लगता हो — और उसकी 'मनुष्यता' उसे बताती रहती है कि ऐसा उसे होना चाहिए, विशेषकर भाव में और संकल्प में।

रसों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो भिन्न बीज हमने देखे। पर दोनों बीज एक ही धरती पर अंकुर लाते हैं। यह धरती 'वासना' की धरती है; और उन रसों में और भी साफ़ सी झलकती है जिन्हें निवृत्ति-गर्भ कहा जा सकता है। निवृत्ति-प्राण रसों में एक निषेध का तीखा-कड़ुवा संकेत — और साथ ही साथ संदेश रहता है कि 'यों नहीं होना चाहिए'। लोक में ऐसा भी होता ही है, ठीक है, पर ऐसा होना ठीक नहीं है। 'इष्ट' नहीं है, श्रेयस् नहीं है, क्योंकि मानव का यह प्रेयस् भी नहीं है। हमारे भाव और कर्म के औचित्य-बोध के अन्तरंग में उतरकर हमारे प्राणों तक को इन निवृत्ति-पालने वाले रसों में एक इंगित मिलता है, एक नीरव, निःशब्द, पर स्पष्ट संकेत मिलता है, जिसे नेति-परक संकेत कह सकते हैं कि ऐसा न होता तो अच्छा था; और यों इसमें हमारे भाव और कर्म के लिये एक संदेश भी रहता है, चाहे ध्वनि के ही रूप में रहता हो, कि अपने काम और संकल्प को ऐसा रखो कि यों न हो। कथा के संसार में निवृत्ति प्रवृत्ति की उपजीवी होती है, प्रवृत्ति को ही प्रतिभा प्रदान करती है।

अभी-अभी मैंने कथा-लोक के रस-जगत् को 'वासना' का जगत् कहा। आपको यह शब्द यहां उलटा और बेमेल सा लग सकता है। कोई दूसरा शब्द लेना शायद ज्यादा अच्छा होता। जैसे 'विभावना' या कोई और उपयुक्त शब्द। 'वासना' में प्रवृत्ति की गंध है। हम प्रवृत्ति की ओर जाना चाहते हैं। 'वासना' शब्द को मैंने संस्कारवश लिया है, अभिनव गुप्त के प्रति पक्षपातवश। पर किसी भी वजह से लिया हो, शब्द विवरण की अपेक्षा रखता है।

अभिनव गुप्त से आरंभ करता हूं। अभिनव कहते हैं कि रस-बोध के लिये एक विशेष मानस या चित्त की आवश्यकता है जिसमें 'वासना' हो। वासना-मय चित्त न हो तो रस का अनुभव भी नहीं होगा। नाट्य-घर में पड़ी कुर्सी को रस-बोध नहीं होता; ऐसे वैरागी को भी नहीं होता जिसमें राग-द्वेष का लेश भी न बचा हो। उसी को होता है जिसमें वासना हो।

'वासना' के इस प्रयोग में बौद्धों का संस्कार है। पर मर्म में मैं समझता हूं बड़ा तलस्पर्शी भेद है। भेद अभिनव की रस-विवेचना में उभरता है, पर ऊह्य के रूप में। उभारा नहीं गया है। अपने विवरण से उभारने की चेष्टा करता हूं, ताकि अपने विचार में समो सकूं। पहले संक्षेप में बौद्धों का आशय सामने रखता हूं। बौद्ध वासना को राग, द्वेष, संकल्प और विकल्प — हमारी शब्द-मयी कल्पना — , इनका गुंफ मानते हैं। वासना, तृष्णा है जो संसार को बनाती है। कुछ बौद्ध हैं जो ऐसा भी मान लेंगे कि जगत् मात्र

को नहीं बनाती — आकाश और अणु के मूल में वासना नहीं है — पर वासना उस संसार को तो बनाती ही है जिसे हम मानव-संसार कहते हैं; जिसके आधार पर कथा-लोक बनता है। वासना उस संसार को ही नहीं बनाती, उस चित्त को भी बनाती है जो संसार को अपनी कल्पना से बुनता है। यह चित्त मेरा या आपका चित्त नहीं; किसी भी 'आत्म' विशेष से परे, एक प्रकार का चिन्मात्र है। और जिसे हम आत्म या अहं कहते हैं उसका भी मूल वासना ही है। पर वासना अपने-आप में निर्मूल है। अविद्या है। दुःख है। इसी निर्मूल में चित्त और संसार का मूल है। इस वासना के संसार से हम छुटकारा चाहते हैं। क्योंकि वासना जिसके मूल में है वह गर्हित है, तुच्छ है, मिथ्या है, अकाम्य है। कहना न होगा कि हमारी प्रज्ञा में 'वासना' की पकड़ जाग जाये तो हम निवृत्ति की ओर ही बढ़ेंगे।

उधर रस-बोध में तो हमने प्रवृत्ति की ओर ले जाने वाली प्रज्ञा का ही संकेत ढूंढा है। वासना को बौद्धों के अर्थ में हम नहीं ले सकते। अभिनव ने इस शब्द को क्यों और किस तात्पर्य से लिया है यह व्याख्या का विषय हो सकता है, पर हम यहां अभिनव पर टीका करने नहीं बैठे हैं। वासना को फिर हम अपने तईं कैसे समझें? उसको निवृत्ति से हटाकर हम प्रवृत्ति की ओर बरबस कैसे मोड़ सकते हैं? पर एक बात पहले ही सोचिये। हमें जिस धारणा को उभारना है वह एक प्रज्ञा, दृष्टि या मनीषा है, जो कथा-लोक की बोध-भूमि है; इस भूमि का एक ऊह्य विचार-तन्त्र या धारणा-व्यूह है जो इसके स्वरूप की पकड़ में ही निहित है। हमारा लक्ष्य इसी को उभारना है। इसे हमने 'वासना' का नाम भर दिया है, उससे तदात्म नहीं कहा है। नाम भी इसलिये दिया कि कुछ सादृश्य है। इस सादृश्य के सहारे हम अपनी बात कह सकते हैं। मैं समझता हूं कि हमारा अभिप्राय अभिनव जैसे आलंकारिकों की उस मनीषा में कुछ पैठने से खुल सकता है जिसने कथा-लोक को रस-बोध के द्वार से आंका और परखा है। हमारे अभिप्राय में भी वासना का एक साधारण चित्-मात्र-पर-व्यापी रूप है, जो अहं-भाव से परे है। नहीं तो वासना रस-बोध के मूल में नहीं रखी जा सकती। रस-बोध में एक साधारणी-भाव होता है जो चित्त विशेष से उठाकर उसे चिन्मात्र की धरती पर रखता है। यह भी हमें मान्य हो सकता है कि वासना का अपना कोई मूल नहीं, वह निर्मूल है। चित् का — या यों कहें कि मनुष्य के चित्त का — स्वरूप-स्वभाव है। इसीलिये निर्मूल है, स्वयंभू है और इसी अर्थ में निर्मूल है। पर चित् के इस 'निर्मूल' स्वभाव में और बौद्धों के निःसार, तुच्छ, निरर्थक, दुःखमय और अनर्थ-मूल निर्मूल में एक महत् अंतर है। चित् यहां आनन्द-स्वरूप है, तभी वह रस-बोध का आधार बनता है। इतना ही नहीं, रस को रस-चर्चा में ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। ऐसा कहने में कोई सार्थकता है तो जिस चित् को यह बोध होता है उसका सम्बन्ध आनन्द से ही नहीं सत् से भी होना चाहिए। ब्रह्म में चित् और आनन्द के साथ सत् का भी अविच्छेद सम्बन्ध है और फिर अगर हम ब्रह्म को किसी भी रूप में कथा के साथ जोड़ें — चाहे सम्बन्ध को कितना ही क्षीण करते हुए जोड़ें, ब्रह्म को केवल उपमानभर मानकर बहुत दूर का ही सम्पर्क साधें — तो भी कथालोक रस से ही नहीं,

सत् से स्वतः जुड़ जाता है। कथा-लोक जिस चित् की सृष्टि है उसमें आनन्द के साथ सत् का सहज, अनिवार्य सम्बन्ध है। ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है। व्यवहार के जिस लोक के आधार पर हम कथा-लोक की सृष्टि करते हैं उसे हम किसी अर्थ में चित् से भिन्न मानकर उसके सत् और आनन्दमय होने पर संदेह भी करें तो भी, कथा-लोक पर यह आक्षेप नहीं ला सकते। फिर एक बात और। कथा-लोक में अगर सत् की कहीं भी नींव है तो व्यवहार जिस अर्थ में सिद्ध नहीं साध्य है — जिसको हम अपने भाव और संकल्प से रूप देते हैं — उस अर्थ में कथा-लोक का कुछ तत्त्व उसमें भी है ही : कथा-लोक के आदर्श हमारे भाव और संकल्प को दिशा देते हैं। इस प्रश्न में यहां नहीं जाऊंगा कि सत् के साथ सिद्ध को तो .माना पर साध्य के साथ सत् का क्या सम्बन्ध हो सकता है? पर इतना कहूंगा कि प्रवृत्ति के स्वीकार में व्यवहार-लोक के सत् की स्वीकृति भी निहित लगती है। असत् में प्रवृत्ति छद्म सी, प्रवृत्ति-हीन सी ही प्रवृत्ति हो सकती है।

सबसे बड़ी बात मैं समझता हूं यह है कि जिस 'निर्मूल' वासना में कथा-लोक की जड़ है वह आनन्द और सत् की ही नहीं, धर्म की भी धरा है। कथा में भाव की साधना अगर रस की ओर बढ़ती है तो इतिवृत्त, चरित, या दूसरे शब्दों में 'कर्म' की साधना धर्म की ओर बढ़ती है। धर्म के बारे में कहा गया है कि वह 'ऊर्ध्व-मूल अधःशाख' है अर्थात्, वह भी 'निर्मूल' है। पर ऋत की तरह निर्मूल है, अविद्या की तरह नहीं : निर्मूल की उसी भूमि पर है जिस पर आनन्द है, सत् है।

यों सत्, ऋत और आनन्द की कथा-लोक को धारण करती यह प्रज्ञा, उसे सम्भव ही नहीं सार्थक बनाती यह 'वासना' बौद्धों की 'वासना' से जड़ में अलग है। बौद्धों की वासना का सम्बन्ध कल्पना से है, उस कल्पना से जो जगत् को मिथ्या प्रपंच के रूप में बुनती है।

'वासना' से मिलती-जुलती धारणायें विचार में अन्यत्र भी मिलती हैं। इस अर्थ में 'मिलती-जुलती' हैं कि उनमें भी ऐसी किसी प्रज्ञा को रूप देने का प्रयत्न होता है जो हमारी किसी प्रवृत्ति में ऊह्य रहकर उसके निर्मूल, स्वयंभू आधार को प्रकट करती हैं। काण्ट का इस दिशा में प्रयास प्रसिद्ध है। उसका दर्शन मानव-ज्ञान के मूल में एक परमआधार का दर्शन है जो हमारी ज्ञान की वृत्तियों में ही स्वयंभू होता है। ज्ञान-दृष्टि में ज्ञान की आंख होता है। हमारी इन्द्रियों और बुद्धि के ग्रहण को रूप देता है। यों ज्ञान मात्र के हर रूप में व्याप्त रहता हुआ ज्ञान का चरम रूप-तन्त्र है, पर भाव और कर्म का नहीं। भाव या भावना के विषय में काण्ट के अभिमत से मैं परिचित नहीं हूं। पर कर्म के मूल में काण्ट ने वैसी किसी स्वयंभू व्यवस्था का आधार नहीं ढूंढा है जैसा ज्ञान के मूल में। उनकी कर्म-दृष्टि उनकी ज्ञान-दृष्टि से भिन्न है। ज्ञान में एक इन्द्रिय-तन्त्र और एक बुद्धि-तन्त्र होता है जिससे ज्ञान बँधा रहता है। पर कर्म में मनुष्य तन्त्र-मुक्त होता है। स्वतन्त्र। फिर कर्म को वे भाव के साथ नहीं जोड़ते हैं। उनके विचार में कर्म तभी स्वतन्त्र होता है जब भाव-मुक्त हो। भाव में वे ज्ञान जैसे किसी स्वयंभू-तन्त्र की बात करते हैं

या नहीं, मैं नहीं जानता, पर मेरी समझ में नहीं करते। उनकी दृष्टि ज्ञान और कर्म की ही ओर थी, भाव की ओर नहीं। ज्ञान में उन्होंने तन्त्र देखा, कर्म को स्वतन्त्र कहा; भाव को शायद वे अपने स्वरूप में ही अराजक समझते थे। भाव और कर्म के विच्छेद को ही उचित समझते थे : भाव से मुक्त होकर ही कर्म सचमुच स्वतन्त्र होता है।

हमने कथा लोक में जिस 'वासना' की धरती को भांपना चाहा है उसमें भाव और कर्म का समुच्चय है। दोनों में परस्पर-भाव है। जुगलबन्दी कह सकते हैं। दोनों एक-दूसरे को बनाते, उभारते चलते हैं। हमने ऊपर अभिनव को कहते सुना कि जड़ वस्तु को रस-बोध नहीं होता; वैरागी को भी नहीं होता। रस-बोध के मूल में वासना कथा-जात रस-बोध के मूल में एक और बात है, जो मानव-सुलभ है। इसे भरत के शब्दों में कहा जा सकता है। नाट्यशास्त्र के पहले ही अध्याय में भरत ने नाटक के होने का, उसके हो सकने की सम्भावना का मूल क्या है, इस प्रश्न पर अपनी तरह का विमर्श किया है : उसके 'आधार' को उभारा है। बड़े पते की बात कही है। उसे भी यहां हम अपनी 'वासना' के साथ जोड़ सकते हैं भरत कहते हैं, नाट्य देवताओं के लिये नहीं है — आशय यह कि देवताओं को भी रस-बोध नहीं होता — क्योंकि देवता केवल सुख ही भोगते हैं, दुःख नहीं। देवताओं में राग-द्वेष-मोह-मत्सर जैसे भाव नहीं होते। न उन्हें कुछ पाने के लिये कुछ करना होता है। ये सब मनुष्य में ही होते हैं; इसलिये नाटक भी मनुष्य की ही चीज़ है।

'वासना' की धारणा काण्ट के बुद्धि-तन्त्र के समान ही 'लोकोत्तर' है। पर जिस रूप में बुद्धि-तन्त्र के सांचों का काण्ट ने ब्यौरेवार परेखा लिया है, उसकी हर कोटि को उभारा है, वैसा ब्यौरा वासना का मैं समझता हूं सम्भव नहीं है। वासना विवेक का आधार बन सकती है पर वह आधार अपने स्वरूप में ही व्यंजना को पालता है, अपने संकेत को द्योतित करता है, बुद्धि की तरह परिनिष्ठित कोटियां नहीं बनाता, न उस तरह से कसा जा सकता है। 'मनुष्य अपने श्रेयस्-प्रेयस् में, अपने धर्म-अर्थ-काम में, अपने सिद्ध-साध्य स्वभाव में ऐसा है' इस बात को वह अपनी तरह से ध्वनित करता है, उसे परिभाषित नहीं करता। वह भाव की वस्तु है, भाव की भूमि पर ही रहता है। कर्म के लिये संदेश सँजोता है : 'यों करो' या 'इस प्रकार का कर्म उचित है' ऐसा कहीं स्पष्ट नहीं कहता।

मैं बात को समेटना चाह रहा था। उलटे बात खिंच रही है। यहां एक बार हठात् रोकता हूं। कथा-लोक पर आपके सामने जो विचार रखे हैं उनको द्वार बनाकर आनृशंस्य पर आगे विमर्श करूंगा।

ए 37-38, विश्वमित्र मार्ग,
शाम नगर, अजमेर रोड,
जयपुर - 302006

कांट और शंकर की दार्शनिक भूमिकायें – एक संक्षिप्त सामान्य सर्वेक्षण

नारायण शास्त्री द्राविड़

पश्चिम के विख्यात चिंतक एमॅनुअल कांट और प्राचीन भारत के महान् आचार्य तथा अद्वैत वेदांत संप्रदाय-प्रवर्तक, भाष्यकार, भक्त, कवि, समाजसुधारक तथा अध्यात्मोपदेशक शंकर इनकी दार्शनिक भूमिकायें प्रायः एक जैसी समझी जाती हैं। इसी कारण भारतीय दर्शन के इतिहासकार कुछ विद्वान् शांकर दर्शन के विवेचन के लिये कांट के दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इन भूमिकाओं के साम्य के आधार पर कांटीय या शांकर दर्शन को एक-दूसरे से उत्कृष्ट या निकृष्ट सिद्ध करने का प्रयास करते भी दिखाई देते हैं। वैसे इन दर्शनों में सतही साम्य अवश्य है। जैसे कांट का थिंग इन इट्सेल्फ या 'आत्मविश्रांत सत्' का संप्रत्यय शंकर के अनिर्वचनीय परमार्थ सद्रूप ब्रह्म के संप्रत्यय से थोड़ा बहुत मिलता-जुलता है। इसी प्रकार शांकर दर्शन की व्यावहारिक सत्ता की अवधारणा कांटीय दर्शन की फ़िनोमिना या सामान्यानुभव-विषय-जगत् की अवधारणा के अनुरूप ही (प्रतीत होती) है। अन्य भी छोटे मोटे साम्य-स्थल इन दो दर्शनों में दिखाई पड़ सकते हैं। दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन दार्शनिक सिद्धान्तों की समानताओं को परिलक्षित कर ही किया जाता है। लेकिन ऐसे अध्ययन के फलस्वरूप दर्शनों के साम्य के साथ उनकी भिन्नताओं का भी यदि उद्‌घाटन नहीं हो पाये तो ऐसे अध्ययन से विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के विकास में रुकावट ही पड़ सकती है। कांट और शंकर के दर्शनों की समानताओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी भिन्नतायें हैं जिनका स्पष्टीकरण किया जाना अत्यावश्यक है। इसका कारण यह है कि इन दो दर्शनों के अन्तिम निष्कर्ष एक जैसे हैं लेकिन इन निष्कर्षों तक पहुँचने में सहायक निष्कर्ष (या सिद्धान्त) एक जैसे नहीं हैं। इन अवांतर निष्कर्षों के अध्ययन से यह जाना जा सकता है कि कैसे एक ही समस्या का एक जैसा समाधान विभिन्न तरीकों से प्राप्त करना सम्भव है। वैसे देखा जाए तो शांकर दर्शन की तुलना हेगेल के दर्शन के साथ भी की गयी है और वह भी महत्त्वपूर्ण है। एक प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डॉ. राजू ने अपनी 'हेगेलियनिज़्म एंड अद्वैत' नामक पुस्तक में यही तुलना विस्तार के साथ प्रस्तुत की है। लेकिन हमारे विचार में कांट और शंकर के सिद्धान्तों में जितनी अनुरूपता है उतनी हेगल और शंकर के दर्शनों में नहीं है। इस निबन्ध में कांटीय और शांकर दर्शनों के भूमिका-भेद को विशद करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया जायेगा कि जिन समस्याओं को कांटीय दर्शन में ठीक तरह

नहीं सुलझाया गया है उनको शांकर दर्शन में सुलझाया या सुलझाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

प्रथम हम कांटीय दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों तथा तथ्यों को सरसरी तौर पर प्रस्तुत करेंगे। कांटीय दर्शन का प्रस्थान बिंदु ज्ञानमीमांसा है जबकि शांकर दर्शन का प्रस्थान बिंदु तत्त्वमीमांसा है। कांट की जिज्ञासा है कि संश्लेषणात्मक एवं निश्चयात्मक (तथा अबाध्य) ज्ञान कैसे संभव है? यह ज्ञान-संभावना संबंधी समस्या कांट के दर्शन की मूलभूत समस्या है जिसे उसने अपने 'शुद्ध बुद्धि-मीमांसा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रारम्भ में ही उपस्थित किया है। कांट के तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ हैं। पहला उक्त ग्रंथ है। दूसरे का विषय व्यावहारिक बुद्धि (या आचरण) है और उसका नाम **क्रिटीक् ऑफ प्रैक्टीकल रीज़न** है। तीसरे ग्रंथ में सौन्दर्यानुभव (या कलास्वाद) तथा उसके सौन्दर्यरूप विषय की चर्चा है और इस ग्रंथ का नाम 'निर्णयात्मक बुद्धि मीमांसा' या **क्रिटीक् ऑफ जज्मेंट** है। इस प्रकार ये तीनों ग्रंथ बुद्धि के ही तथाकथित तीन पक्षों या पहलुओं की चर्चा करते हैं। तत्त्वमीमांसा आनुषंगिक रूप से ही शुद्ध बुद्धि संबंधी विचारों में समाविष्ट हुई है। ज्ञान मीमांसा को दर्शन की मूलभूत समस्या मानने का कारण कांट के लिये यह है कि उसके पूर्ववर्ती अनुभववादी (या संवेदवादी) दार्शनिकों ने, विशेषकर संदेहवादी (एवं संवेदवादी भी) डेविड ह्यूम ने कुछ तर्कों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी निश्चयात्मक ज्ञान संभव नहीं है। इसका एक कारण यह है कि किसी भी निश्चयात्मक ज्ञान में दो या अनेक वस्तुओं अथवा तथ्यों के बीच प्रायः अनिवार्यता या आवश्यकता प्रदर्शित करने वाला कार्यकारण भाव, व्याप्य-व्यापकभाव, आधाराधेय भाव, साहचर्य, पूर्वापरभाव, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, नियम्य-नियामक भाव, आपाद्यापादक भाव जैसा कोई न कोई संबंध उल्लिखित हुआ करता है। लेकिन वास्तव में ऐसा कोई संबंध न होता है न हो सकता है। इसका एक सीधा कारण यह है कि यदि कोई दो या अनेक वस्तुएं या तथ्य अनिवार्यतया एक-दूसरे से संबद्ध हों तो वे कभी भी एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते न एक-दूसरे से अलग अपने-अपने रूप में दृग्गोचर ही हो सकते हैं। क्या कार्य और कारण ऐसे हैं? उत्पन्न हो जाने के बाद कार्य, कारण के बिना ही रहता है। कार्य उत्पन्न होने के पूर्व कारण भी कार्य के बिना ही रहता है। यही नहीं, दो या अधिक वस्तुओं (या तथ्यों में) किसी भी प्रकार के संबंध के घटित होने की बात सही नहीं है। यदि वस्तुएं या तथ्य भिन्न हैं तो वे परस्पर संबद्ध कैसे हैं? ऐसे सीधे-सादे तर्कों के द्वारा ह्यूम ने निश्चयात्मक ज्ञान के आधारभूत कार्य-कारण भावादि नियमों को ही असंभव ठहरा दिया। इससे सर्वजन संमत विज्ञान तथा गणितशास्त्र के सिद्धान्त या नियम-बोधक वाक्यों की सत्यता भी खटाई में पड़ गयी। इस समस्या का निराकरण कांट के विचार में दर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। अतः अपनी 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' में कांट ने प्रारम्भ में ही यह बात स्पष्ट कर दी कि कार्यकारण भावादि नियमों को किसी भी हालत में संदेहास्पद नहीं माना जा सकता। सामान्यानुभवों की सत्यता शंकातीत है अतः उनके आधारभूत नियम भी शंकातीत ही होने

चाहियें। विज्ञान और गणित में इन नियमों के आधार पर ही देशकाल परिच्छिन्न वस्तुओं या तथ्यों के संबंध में प्रकथन किये जाते हैं। इस कारण ये प्रकथन निश्चयात्मक रूप से प्रमाण मानना आवश्यक है। ह्यूम ने जितनी सहजता से कार्यकारणादि (अनिवार्यता) संबंधों को अप्रमाण ठहराया उतनी ही सहजता से कांट ने इन संबंधों की अनिवार्यता प्रमाणित की। जो प्रश्न (उपर्युक्त) **शुद्धबुद्धि-मीमांसा** के प्रारंभ में कांट ने विचारार्थ प्रस्तुत किया है वह विज्ञान तथा गणित से प्राप्त होने वाले ज्ञान की प्रमाणता को स्वीकार कर उसकी प्रक्रिया के स्पष्टीकरण से ही संबंध रखता है। लेकिन दार्शनिक ज्ञान या दार्शनिक सिद्धान्तों के संबंध में कांट का रुख बिल्कुल नकारात्मक है क्योंकि दार्शनिक चिंतन के तथाकथित विषय – ईश्वर, जीव, समग्र विश्व, इनके परस्पर संबंध, विश्व की सृष्टि, प्रलय आदि प्रक्रियाएँ और इनका कारक और उनका स्वरूप, जीवन का परम लक्ष्य आदि देशकाल-परिच्छिन्न न होकर ये सभी प्रकार की मर्यादाओं के अतिक्रामी हैं। कोई भी आनुभविक नियम इन तत्त्वों (यदि वे सत् हों तो) को लागू नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ सामान्य घट-पटादि पदार्थों के कर्त्ता या निर्माता होते हैं इसलिये विश्व का भी निर्माता कोई अनंत ज्ञानेच्छा-शक्तियुक्त सत्ता होनी चाहिये ऐसा कार्य-कारण भाव नियममूलक तर्क करना कांट के विचार में सदोष है। इन दोषों की चर्चा कांट ने 'तर्कों के अन्तर्विरोध' शीर्षक अध्याय में की है। इस प्रकार दर्शन पर लिखे गये अपने प्रमुख ग्रंथ में कांट ने दार्शनिक तर्कों के द्वारा दार्शनिक चिन्तन की ही सदोषता या निष्फलता को सिद्ध करने का (एक अंतर्विरोधपूर्ण) प्रयास किया है ऐसा कहना पड़ता है।

इसके विपरीत शंकराचार्य अपने तत्त्वमीमांसा प्रधान दर्शन में, जिसे उन्होंने **ब्रह्मसूत्र** पर लिखे गये अपने भाष्य में विशद किया है, दार्शनिक ज्ञान को संभव ही नहीं अवश्य अधिगंतव्य भी मानते हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि 'ब्रह्म की अवगति से समाप्त होने वाली जिज्ञासा ही ब्रह्मजिज्ञासा है। केवल ब्रह्म के संबंध में तरह-तरह के विचारों का आकलन कर उन्हीं से संतुष्ट होने वाली जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो सकती। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रह्म (और अन्य दार्शनिक प्रमेयों) का ज्ञान संभव है अतः उसकी प्राप्ति के लिये बौद्धिक प्रयास करना उचित है। इस पर सहज ही प्रश्न होगा कि क्या ब्रह्म जैसे दार्शनिक प्रमेयों का ज्ञान कार्य-कारण भावादि संबंधों के द्वारा संभव है? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। एक यह कि निषेधमुखेन अर्थात् सभी व्यावहारिक प्रमेयों के निषेध के द्वारा '(नेति-नेति)' ब्रह्म का (निषेधात्मक) ज्ञान संभव है। दार्शनिक चिंतन इस निषेध की संभावना को स्पष्ट करने के लिये ही (जैसा शंकराचार्य ने ही अपनी दशश्लोकी में 'न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुः। न खं नेंद्रियं वा न तेषां समूहः॥. . . न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा। न च त्वं न चाहं न चायं प्रपंचः॥ ऐसे पद्यों के द्वारा कहा है) अपेक्षित है। यह निषेधात्मक ज्ञान ब्रह्मानुभव रूप न होने पर भी एक विशेष प्रकार का ब्रह्मज्ञान ही है जिसकी प्राप्ति के लिये दार्शनिक चिंतन अपेक्षित है। अतः कांट का यह विचार सही नहीं है कि दार्शनिक

प्रमेय (यदि वे सत् हों तो) बिल्कुल अज्ञेय हैं और उनकी अज्ञेयता का आकलन, या यों कहिये कि दर्शन की निष्फलता का आकलन, ही दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य है।

उपर्युक्त प्रश्न का एक और उत्तर भी है। वह यह है कि व्यावहारिक पदार्थों या इनको लागू होने वाले संप्रत्ययों की सदसद्विलक्षणता अथवा अपरिभाषेयता के आधार पर इनके अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म जैसे दार्शनिक प्रमेयों का ज्ञान संभव है। यह ज्ञान भी निषेधात्मक है लेकिन वह आनुमानिक (या अर्थापत्तिरूप) कहा जा सकता है। अनुमान का स्वरूप यह है कि विश्व स्वयं सत् न होने पर भी 'सत्' रूप से अनुभव-गोचर होता है; इस सद्रूपता के प्रत्यय का कारण विश्व के अधिष्ठान की ही सत्यता होनी चाहिये जैसे शुक्ति में रजत उपस्थित न होते हुए भी वह भ्रांति के प्रसंग में सद्रजत के रूप से ही दृग्गोचर होता है। इसका कारण शुक्ति की ही सत्ता होती है। इस तरह दार्शनिक प्रमेयों का दार्शनिक चिंतन के द्वारा आनुमानिक (या एक विशेष प्रकार का) ज्ञान संभव है ऐसा शंकराचार्य का मत होने से दर्शन को निष्फल कहने की उन पर नौबत नहीं आयी।

अपनी '**व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा**' तथा '**निर्णयात्मक बुद्धिमीमांसा**' में कांट ने अपने उपर्युक्त दर्शन संबंधी विचार को बिल्कुल बदल दिया है। वह कहता है कि व्यावहारिक बुद्धि (जो बुद्धि का ही एक पक्ष है) आत्म-स्वातंत्र्य और तत्संबद्ध सभी दार्शनिक प्रमेयों (या नैतिक तत्त्वों) का आकलन करती है। शुद्ध निरपेक्ष नैतिक आचरण इस आकलन के बिना संभव नहीं है। सब प्रकार के बाह्य प्रलोभनों के होते हुए भी उनकी उपेक्षा कर केवल सद्भावना से प्रेरित हो सदाचरण करना आत्मस्वातंत्र्य की आंतरिक अनुभूति (या साक्षात्कार) से ही मनुष्य के लिए संभव है। सदाचरण करते समय मनुष्य अपने को एक नियति-निरपेक्ष पूर्ण स्वतंत्र तत्त्व के रूप में अनुभव करता है। यह अनुभव परम तत्त्व का अनुभव है जो शुद्ध बुद्धि से अप्राप्य होते हुए भी व्यावहारिक बुद्धि के लिये अवश्य प्राप्य है। कांट का यह विचार मौलिक होते हुए भी अजीब सा है। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि सब प्रकार के प्रतिरोधों की परवाह न कर जब कोई व्यक्ति अपने चुने हुए नैतिक मार्ग पर चलने का प्रयास करता है तभी उसे अपने अपनत्व का या स्वातंत्र्य का बोध होता है लेकिन यह बोध अपने कर्तृत्व के बोध से जुड़ा हुआ होने से उसे कार्यकारणभाव के संप्रत्यय से अलगाया नहीं जा सकता। और इस बोध को बोध कहने की अपेक्षया श्रद्धा या विश्वास कहना अधिक उपयुक्त होगा। कांट को इस पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। लेकिन इस आत्म-स्वातंत्र्य के श्रद्धा के अंतरंग को समझने का प्रयत्न किया जाय तो इसमें पुनर्जन्म, कर्मविपाक, ईश्वर की सत्ता आदि अनेक बातें समाविष्ट हुई प्रतीत होंगी। बिना जन्मांतर की संभावना के आत्म-स्वातंत्र्य तथा उसकी प्रेरणा से किये गये कर्म बिल्कुल निरर्थक हैं। कर्म और कर्मफल को जोड़ने के लिये सर्वशक्तिमान् ईश्वर की भी ज़रूरत है। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि के दायरे में न आने वाले सभी विषय व्यावहारिक बुद्धि या श्रद्धा की पकड़ में आ जाते हैं। लेकिन कांट यह बात नहीं मानता। वह इन विषयों में से कुछ (ईश्वर आदि) को केवल अनुभव-निर्धारक तत्त्वों के रूप में ही

स्वीकार करता है। इस अपवाद का तार्किक स्पष्टीकरण देना बड़ा कठिन है। लेकिन यदि कांट ईश्वर आदि प्रमेयों को भी व्यावहारिक बुद्धि के विषयों के रूप में स्वीकार करता है तो उसे एक अन्य कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। वह कठिनाई यह है कि जिस स्वातंत्र्य को कांट परम तत्त्व मानता है वह वास्तव में परम तथा निरपेक्ष तत्त्व नहीं हो सकता। आत्मस्वातंत्र्य तथा उससे प्रेरित सदाचारपूर्ण जीवन की अंतिम सफलता के लिए ईश्वर की कृपा या सहायता की आवश्यकता अनिवार्य है। केवल स्वातंत्र्य के भरोसे कोई भी जीव या आत्मा अपने अंतिम लक्ष्य – परम सुख– की प्राप्ति नहीं कर सकता। इस कारण आत्म-स्वातंत्र्य को ईश्वर की कृपा पर ही आश्रित मानना होगा। उसे पूर्णतया निरपेक्ष तथा स्वयंपूर्ण या आत्मविश्रांत सत् नहीं माना जा सकता।

एक और कठिनाई का भी यहाँ कांट को सामना करना पड़ेगा। जैसे एक व्यक्ति की आत्मा का स्वातंत्र्य परमतत्त्व है वैसे ही अन्य अनंत व्यक्तियों की आत्माओं के विभिन्न स्वातंत्र्य भी परमतत्त्व के रूप में स्वीकार्य होने चाहियें। तब क्या विश्व में अनगिनत परमतत्त्व होंगे? यह विचार ही कुछ विचित्र सा लगता है। विभिन्न आत्माओं के बीच कोई संबंध ही नहीं होता ऐसा तो कहा नहीं जा सकता। यदि इनमें संबंध माना जाय तो वह पूर्ण सामंजस्य रूप ही हो सकता है। यदि ऐसा कोई संबंध हो तो उसको अलग अलग स्वतंत्रताओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानना होगा। इस कठिनाई से ही संबद्ध एक और भी कठिनाई है जिसका विचार न कांट ने न उसके समीक्षकों ने ही किया है। वह कठिनाई यह है कि **शुद्ध बुद्धिमीमांसा** में जिसे कांट स्वलक्षण वस्तु या आत्म-विश्रांत सत् कहकर अनुभवातिक्रामी तत्त्व मानता है उसका व्यावहारिक बुद्धिगम्य स्वातंत्र्य रूप परम तत्त्व के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता। आत्मविश्रांत सत् ही स्थल-काल परिच्छिन्न तथा विकल्प-प्रसूत संप्रत्ययों से निर्धारित होकर आनुभविक जगत् का रूप धारण करता है। लेकिन आत्मस्वातंत्र्य या उससे संबद्ध कोई अन्य तत्त्व दृश्य जगत् का रूप नहीं ग्रहण करता या कर सकता है। इसलिये इन दो परमतत्त्वों को एक-दूसरे से अलग ही मानना होगा। इनमें आत्म-विश्रांत सत् या जगत् का अधिष्ठान किसी भी बुद्धि का विषय न होने से वह सदैव अज्ञेय ही बना रहेगा। निर्णायक बुद्धि का भी वह विषय नहीं हो सकता क्योंकि सौंदर्यानुभव-विषय सामान्यानुभव-विषय-विश्व के साथ एकरूप है ऐसा प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार कांट को एक आत्मरूप तथा एक जगद्रूप ऐसे दो परम तत्त्व मानने पड़ेंगे।

शंकराचार्य के मतानुसार आत्मस्वातंत्र्य न एक वा स्तविकता है न परम तत्त्व। जीवात्मा पूर्णतया स्वतंत्र हो ही नहीं सकता क्योंकि वह शरीर, मन, बुद्धि आदि और इनके द्वारा घटित जो शुभाशुभ कर्म होता है उसके बंधन से जकड़ा हुआ रहता है। अशुभ कर्म के समान शुभ कर्म भी बंधनकारक होता है। अतएव नैतिकता में मनुष्य या मनुष्य की आत्मा पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त नहीं कर सकती। प्रतिकूल परिस्थितियों तथा प्रलोभनों से संघर्ष करते हुए नैतिकता का अनुसरण करने में मनुष्य को स्वातंत्र्य का अनुभव अवश्य होता है किंतु

शंकराचार्य इस अनुभव को भ्रामक ही कहेंगे। जब तक शरीर और शारीरिक प्रयत्न, यही नहीं मन और मनोवृत्तियाँ बने रहेंगे तब तक आत्मा बंधमुक्त नहीं हो सकता। असत्कर्म के साथ सत्कर्म के प्रति भी लगाव समाप्त होना स्वातंत्र्यानुभूति के लिये आवश्यक है। निष्काम कर्मयोग की साधना में यह बात कुछ हद तक संभव है। लेकिन इस प्रकार के कर्मयोग में कर्मफल के प्रति यदि नहीं तो कर्म के प्रति आस्था तो बनी ही रहती है। शंकराचार्य कर्म-विषयक आत्मा को भी बंधनकारक समझते हैं जबकि कांट के विचार में निष्काम-निरपेक्ष कर्म आत्मस्वातंत्र्य की अनुभूति का अनन्य अधिष्ठान है। इस पर कांट के समर्थन में यह प्रतिवाद संभव है कि कर्म की प्रेरक जो सद्‌भावना है वही वास्तव में कांटीय नीतितत्त्व का आधार है। सद्‌भावना तो कभी किसी के लिए बंधनकारक नहीं हो सकती। लेकिन सद्‌भावना के व्यवहार्य (सैद्धान्तिक नहीं) रूप का विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि शुद्ध निरपेक्ष और सर्वंकष सद्‌भावना नैतिकता का आधार कदापि नहीं हो सकती। आत्म-पर का भेद नीति के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हर प्रकार के नीतिनियम यह सिखाते हैं कि स्वयं कष्ट सहकर भी मनुष्य दूसरों को सुख पहुँचाये। सुख उपलब्ध हो तो अपने लिये कम (या नहीं भी) और दूसरों के लिए अधिक से अधिक सुख जुटाने का मनुष्य प्रयत्न करे। इस प्रकार यदि सदाचारी व्यक्ति कम सुख और अधिक कष्ट पाकर ही आत्मोन्नति कर सकता हो तो दूसरों की उन्नति के बारे में भी ऐसा ही वह क्यों न सोचे? या दूसरों की आत्मिक उन्नति के बारे में कोई क्योंकर चिन्ता करे? यदि आत्मोन्नति या आत्मकल्याण ही प्रत्येक मनुष्य के जीवन का परमलक्ष्य हो तो क्या यह लक्ष्य अन्यों के प्रति नैतिक ज़िम्मेदारी निभाये बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता? इन सब प्रश्नों का गहराई से विचार किया जाय तों सदाचरण और उससे निगडित जो स्वातंत्र्य है उसे परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करना न तर्कसंगत है न व्यवहार्य ही, ऐसा प्रतीत होगा। कांट ने नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति को एकरूप मान लिया जिससे मनुष्य-जीवन की परमोच्च स्थिति उसकी नैतिकता में ही प्रकट होती है ऐसा सिद्धान्त उसने अपना लिया। शंकराचार्य यह बात बिल्कुल नहीं स्वीकार करते। उनके विचार में निष्काम कर्मयोग से भी उच्चतर आत्मिक अवस्था कर्मसंन्यास की है जब आध्यात्मिक साधक कर्म या नैतिकता की उच्चतम आत्मिक अवस्था को भी पार कर उस स्थिति में पहुँच जाता है जब संसार की कोई भी अच्छी या बुरी बात उसके लिये बंधनकारक नहीं होती। इस स्थिति का वर्णन 'निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतां को विधि को निषेधः'? इस सुप्रसिद्ध श्लोकार्ध में किया गया है।

अपने तीसरे विशेष महत्त्वपूर्ण माने गये दार्शनिक ग्रंथ **निर्णयात्मक बुद्धि मीमांसा** में कांट शुद्धबुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विषयों में सामंजस्य प्रस्थापित करने के लिये सौंदर्यानुभावक तथाकथित 'निर्णयात्मक' बुद्धि की सहायता लेता है। दृश्य विश्व का अज्ञात वस्तु सद्रूप जो अधिष्ठान है वह शुद्धबुद्धि की कक्षा में भले ही समाविष्ट न हो सके सौंदर्यानुभव का विषय वह अवश्य होता है, क्योंकि यह अधिष्ठान प्रकृति है जो वास्तव में जड़ नहीं है। प्रकृति विराट् है, अर्थपूर्ण है, सोद्देश्य

है और सुंदर है। प्रकृति के इस भव्य दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार कलात्मक अनुभूति में घटित होता है। इस प्रकार शुद्धबुद्धि की कमी को निर्णयात्मक बुद्धि पूरा कर देती है और व्यावहारिक बुद्धि-विषय आत्मस्वातंत्र्य का अपने विषय प्रकृति के उदात्त तथा विराट् स्वरूप के साथ सामंजस्य प्रस्थापित कर देती है। यह सामंजस्य क्या है? क्या आत्म-स्वातंत्र्य और प्रकृति की विराट्ता, भव्यता आदि एक ही तत्त्व के विभिन्न रूप हैं? यदि नहीं तो इनके बीच सामंजस्य कैसे प्रस्थापित होता है? किसी प्रकार यह सामंजस्य प्रस्थापित हो जाता है यह मान लें तो भी स्वातंत्र्य और सौन्दर्य इनका भेद सामंजस्य के कारण समाप्त नहीं हो जाता। इसका मतलब यह हुआ कि परम तत्त्व एक न होकर अनेक हैं। एक आत्मरूप (या आत्मगत) परमतत्त्व है और दूसरा अनात्मरूप (या अनात्मगत) परमतत्त्व। इन तत्त्वों के अनुभावक अनुभव भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। सौन्दर्य का अनुभव कलास्वादरूप होता है और स्वातंत्र्य का अनुभव सदाचरण-रूप होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई ऐसा अनुभव है जिसमें सौन्दर्य और स्वातंत्र्य इन दोनों की एक साथ प्रतीति हो? यदि नहीं तो इन दोनों में सामंजस्य कैसे संभव है? एक और प्रश्न भी इस संबंध में यहाँ उठाया जा सकता है। वह यह है कि 'प्रकृति की भव्यता का अनुभव करने वाले आत्मा का स्वरूप क्या है?' स्वातंत्र्य इसका स्वरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि सौंदर्यानुभव का आचरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। केवल आकाररूप (फार्मल) भी इस आत्मा को मानना सही नहीं होगा क्योंकि भव्यता, दिव्यता जैसे सौन्दर्यानुभव के विषयों का क्रमशः संप्रत्ययों के द्वारा संहतीकरण नहीं हुआ करता। ये विषय अखंड हैं और इनका अनुभव न खंडशः न क्रमशः ही होता है। थोड़ा थोड़ा कर सौन्दर्य की अनुभूति नहीं हुआ करती। न ही इस अनुभूति के विषयों का कोई विशिष्ट स्वरूप होता है। अपने साधारणीकृत स्वरूप में ही ये विषय अनुभूत होते हैं। इसके ठीक विपरीत स्वातंत्र्यानुभव करने वाले आत्मा की स्थिति होती है। पूर्ण मनोयोग के साथ सदाचरण में निरत व्यक्ति की आत्म-भावना अत्यंत उत्कट होती है। इस आत्मभावना को ही यदि हम स्वातंत्र्यानुभूति कहें तो विशेष गलती नहीं होगी। इस पर से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि सौन्दर्यानुभव और स्वातंत्र्यानुभव इनके विषय जैसे एक-दूसरे से भिन्न प्रकार के हैं वैसे ही इनके विषयी भी बिल्कुल भिन्न प्रकार के हैं। इन अनुभवों में किसी भी प्रकार का सामंजस्य प्रस्थापित करने की बात ही नहीं की जा सकती।

शंकराचार्य के सम्मुख यह समस्या कभी उपस्थित नहीं हुई। इसका कारण यह है कि उन्होंने बुद्धि के कृत्रिम भेद कल्पित कर इन भेदों के अनुरूप परम तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों की कल्पना नहीं की। यही नहीं, परमतत्त्व को उन्होंने बुद्धि-अतिक्रामी तथा एकसाथ ही सद्रूप, चिद्रूप तथा आनन्द-रूप माना। ब्रह्म संबंधी यह विचार या ब्रह्म का यह स्वरूप (या स्वरूप लक्षण) उपनिषदों में अनेक प्रसंगों में उपस्थित किया गया है। 'सत्यं विज्ञानं आनंदं ब्रह्म' जैसे वाक्य उपनिषदों में बिखरे पड़े हैं। ब्रह्म की अनंतता के प्रतिपादक वाक्य भी उपनिषदों में कई बार दोहराये गये दिखाई पड़ते हैं। स्वयं 'ब्रह्म' शब्द ही अनंतता का

वाचक है ऐसा भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं। 'बृहत्वात् ब्रहणत्वात् वा ब्रह्म' अर्थात् जो सब तरह महान् है याने देशतः, कालतः, वस्तुतः तथा धर्मतः परिच्छिन्न नहीं वही ब्रह्म है, ऐसी ब्रह्म शब्द की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने की है। इस कारण ब्रह्म एक-साथ ही सद्रूप, चिद्रूप तथा आनन्द रूप माना जाय तो इस में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। कांट ने बुद्धि के तथाकथित तीन पहलुओं (शुद्ध बुद्धि, व्यावहारिक बुद्धि एवं निर्णयात्मक बुद्धि) के तीन अलग अलग पार्यंतिक विषयों (आत्म विश्रांत सार, स्वातंत्र्य तथा सौन्दर्य) की कल्पना की किन्तु जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है इन विषयों के बीच किसी प्रकार के सामंजस्य को प्रस्थापित करने में कांट को विशेष सफलता नहीं मिली। शंकराचार्य पुरस्कृत औपनिषद ब्रह्म-संप्रत्यय में सत् के रूप में आत्मविश्रांत सत् का, चिद्रूप में स्वातंत्र्य का और आनन्द के रूप में सौन्दर्य का अभिन्नतया समावेश हो जाता है। (सौन्दर्य उसका अनुभव या आस्वाद और आनन्द ये सब लगभग एक ही हैं)। आपाततः बुद्धि के उक्त तीन पहलुओं में भेद अवश्य प्रतीत होता है लेकिन इन पहलुओं के पीछे जो चेतना है वह एकरूप ही है। उसमें किसी प्रकार का आंगिक भेद नहीं है। इस मौलिक अभिन्नता को समझाने के लिये एक उपनिषद् में एक छोटी नदी में हिलोरे लेती व्हेल (जिसकी संस्कृत में 'राघव' यह संज्ञा है) मछली की उपमा दी गयी है। यह मछली जब दायीं करवट से हिलोरे लेती है तब नदी के दायें किनारे पर दूर तक नदी की लहरें फैल जाती हैं। इसी प्रकार बांयी करवट से मछली के हिलोरे लेने पर नदी का बांया किनारा दूर तक पानी में डूब जाता है। चेतना इस मछली जैसी ही है। वह एक ही होते हुए भी विभिन्न रूपों में अपनी सत्ता को प्रकट करती रहती है तथा इन रूपों के पारस्परिक संबंध को भी बनाये रखती है। एक ही चेतना कभी जागृति के, कभी स्वप्न के, कभी सुषुप्ति के, कभी तंद्रा के, कभी मनन-चिंतन के तो कभी समाधि के रूप में प्रकट होती हुई इन विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप विभिन्न विषयों को उद्भासित करती रहती है। कांट का बुद्धि-संबंधी वर्गीकरण सब तरह से कृत्रिम है। इन वर्गीकृत बुद्धियों के बीच सामंजस्य प्रस्थापित करने (या सामंजस्य की विद्यमानता को समझाने) का कांट का प्रयत्न तो और भी कृत्रिम है। बुद्धि के तथाकथित तीन पहलुओं के लिये जो संज्ञायें कांट ने प्रयोग में लायी हैं उनके पीछे तो कोई भी तुक नहीं है। वैज्ञानिक, दार्शनिक या सामान्य मनन-चिंतन तथा अनुभवों में प्रयुक्त बुद्धि के पहलू को किस आधार पर शुद्ध या सैद्धान्तिक कहना उपयुक्त है यह बात समझ के परे है। 'व्यावहारिक बुद्धि' व्यावहारिक क्यों है यह बात भी समझने लायक नहीं है। हाँ, यदि इच्छा को ही बुद्धि की संज्ञा दे दी जाय तो नैतिक आचरण सदिच्छा-प्रेरित होने से नैतिकता की चेतना को 'व्यावहारिक बुद्धि' यह संज्ञा दी जा सकती है। 'निर्णयात्मक बुद्धि' यह संज्ञा तो बिल्कुल अटपटी है। सौन्दर्यानुभव कैसे निर्णयात्मक है या कैसे वह शुद्ध और व्यावहारिक बुद्धियों के बीच सामंजस्य प्रस्थापित करता है यह बात भी समझ से परे है (ऊपर इसका निर्देश किया जा चुका है)। किसी प्रकार सौन्दर्यानुभव या कलानुभूति को अपनी बुद्धिमीमांसा में समाविष्ट कर उसे बुद्धियों में परमोच्च स्थान देने के लिये ही

कांट ने उसे 'निर्णयात्मक बुद्धि' की पदवी प्रदान की होगी ऐसा कोई कहे तो वह असंगत नहीं होगा।

बुद्धि-विषयों के बीच सामंजस्य प्रस्थापित करने में जैसे कांट सफल नहीं हुआ है वैसे ही विषयी आत्मा और इन विषयों के बीच भी सामंजस्य प्रस्थापित करने में कांट को सफलता नहीं मिली है। पहले तो कांट यही ठीक तरह नहीं समझा पाया है कि ज्ञान को परिनिष्ठित रूप देने में जो आत्मा एक पूर्वसिद्ध आनुव्यावसायिक एकता का काम करता है और जो एक वस्तु न होकर केवल आकारमात्र है उस आत्मा का विश्रांत सत् या स्वातंत्र्य के साथ क्या सम्बन्ध है, और कोई सम्बन्ध है भी या नहीं। कांट ने यहाँ एक बिल्कुल अनुभवविरोधी बात कह डाली है। यह मान भी लें कि आत्मा आकार मात्र है, वस्तु नहीं, तो भी अनुव्यवसाय का आत्मा केवल आकार-रूप है यह मानना अनुभव के विरुद्ध है। सब प्रकार के और सभी विषयों के अनुभव अनुभविता को तभी प्राप्त करते हैं जब वे आत्मा के द्वारा अपनाये जाते हैं। यह अपनाया जाना ज्ञात तथा अज्ञात दोनों प्रकार का हो सकता है। अज्ञात रूप से भी अनुभव अनुभविता के द्वारा अपनाये जाते हैं इस बात का प्रमाण यह है कि एक व्यक्ति का कोई भी अनुभव अन्य किसी भी व्यक्ति के द्वारा अपनाया नहीं जा सकता, अर्थात् एक ही अनुभव को किसी भी परिस्थिति में एक से अधिक व्यक्ति अधिगत नहीं कर सकते। दो व्यक्तियों के अनुभव सब तरह एक समान हो सकते हैं किन्तु कभी वे एकरूप नहीं हो सकते। इस तरह सब अनुभवों को एक सूत्र में बांधने वाले आत्मा का आत्मविश्रांत सत् के साथ क्या संबंध है और स्वातंत्र्य का इस आत्मा के साथ क्या संबंध है इन दोनों बातों का कांट ने विशेष स्पष्टीकरण नहीं दिया है। लेकिन शांकर दर्शन में आत्मा और परम तत्त्व के संबंध के विषय में किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं है। आत्मा ज्ञान का आकार नहीं ज्ञान का (व्यावहारिक ज्ञान या अविद्या का) वह आधार है। किसी भी ज्ञान को विशिष्ट आकार में ढालने का कार्य आत्मा नहीं अन्तःकरण करता है। अन्तःकरण के घटक बुद्धि, मन, चित्त तथा अहंकार हैं। इन घटकों के द्वारा क्रमशः ज्ञान परिनिष्ठित रूप प्राप्त करता है। कांट जिसे आत्मरूप आकारिक एकता कहता है वह शंकर के अनुसार एक आहंकारिक प्रक्रिया है। आत्मा और परब्रह्म इनमें केवल औपाधिक भेद है क्योंकि अन्तःकरण से परिच्छिन्न चैतन्य ही आत्मा है। अन्तःकरण-रूप उपाधि का विलय हो जाने पर शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म ही शेष रहता है।

शुद्ध बुद्धि के कांटीय विवेचन में भी बहुत कृत्रिमता है। स्थल, काल से संवलित रूप से प्रथम वस्तुओं का संवेदन, तदनंतर इस संवेदन के विषयों पर बुद्धिनिर्मित विकल्पों का आरोपण, तदनंतर इन सविकल्पक पदार्थों के स्वरूप का कुछ उच्चतम संप्रत्ययों (ईश्वर, विश्व आदि विषयक) के द्वारा नियमन इन क्रमिक प्रक्रियाओं से ज्ञान घटित होता है ऐसा कांट का कथन है। स्थल और काल को कांट ने बुद्धि की संवेदनशीलता का आकार कहा है। सीधे शब्दों में इसका मतलब यह है कि जिस किसी भी वस्तु को हम स्थान विशेष में विद्यमान और किसी कालविशेष में अपनी सत्ता को प्रकट करते हुए देखते हैं। इसका

कारण यह है कि हमारा ज्ञान का साधन एक शरीर रूप (जड़) पदार्थ है जो स्वयं किसी स्थान में और किसी काल में अवस्थित होता है। शांकर दर्शन के अनुसार इस बात का स्पष्टीकरण यह होगा कि हमारा अन्तःकरण अपने विषय का आकलन करने के लिए जब उसकी ओर उन्मुख होता है तब वह उस विषय-वस्तु के तात्कालिक स्वरूप को अपने में प्रतिबिम्बित करता है। स्थल और काल बुद्धि की संवेदन-क्षमता के धर्म न होकर वस्तु की सत्ता के निर्धारक तत्त्व हैं। यदि वे बुद्धि के धर्म होते तो स्थल-कालातीत पदार्थों का संवेदन या ज्ञान कभी न होता। सुखदुःखादि की अनुभूति केवल कालिक पदार्थों या घटनाओं के रूप में होती है। यदि स्थल और काल दोनों बुद्धि के धर्म होते तो सुख-दुःखादि का तथा बाह्य जड़ पदार्थों का एक-जैसा ही ज्ञान होता। बुद्धि के विकल्पों के रूप में परिमाण, निश्चय-मात्रा, गुण, संबंध तथा मॉडेलिटी का कांट ने उल्लेख किया है। ये विकल्प संवेद्य पदार्थों से संबंध नहीं रखते। इन पदार्थों के संबंध में किये जाने वाले विधि-निषेधात्मक प्रकथनों को ही ये विकल्प लागू होते हैं। लेकिन कांट ने वस्तु और वस्तुसंबंधी प्रकथन इनके सुस्पष्ट भेद को ज्ञान की प्रक्रिया के विवेचन के प्रसंग में बिल्कुल भुला दिया है। बुद्धि की नियामक अवधारणाओं के संबंध में कांट का मत तो अतीव विचित्र है। यदि इन अवधारणाओं के विषय सत्य तत्त्व नहीं हैं तो ये किस प्रकार किसका नियमन करते हैं? इस प्रकार के कई प्रश्न कांट के बुद्धि संबंधी वर्गीकरण को लेकर उपस्थित किये जा सकते हैं जिनका संतोषदायक समाधान प्राप्त करना बहुत कठिन है। शांकर मत के अनुसार बुद्धि अपने विकल्पों को विषय-वस्तु पर आरोपित नहीं करती। जो धर्म, गुण या संबंध वस्तुओं में होते हैं वे ही बुद्धि के दायरे में आते हैं तथा उसके द्वारा आकलित होते हैं। कांट की भूमिका तो सरासर विज्ञानवादी है जिसको योगाचार-संप्रदाय के बौद्धों ने अपनाया है और जिसका शंकराचार्य ने खण्डन कर दिया है।

प्रोफेसर कोलोनी
हनुमान नगर, नागपुर।

प्रतिपादन शैली का अभिनव विकास : स्याद्वाद*

- आचार्य महाप्रज्ञ

जैन-दर्शन यथार्थवादी दर्शन है। उसने पंच अस्तिकाय के आधार पर विश्व की व्याख्या की है। अस्तिकाय की व्याख्या के लिए एक विशेष दृष्टिकोण को अपनाया, उसका नाम है—अनेकांत। अनेकांतात्मक दृष्टिकोण की प्रतिपादन-शैली का विकास किया, उसका नाम है—स्याद्वाद। अनेकांत और स्याद्वाद सर्वथा एक नहीं हैं और सर्वथा विभक्त भी नहीं हैं।

अनेकांत का मूल आधार है नयवाद। भगवान् महावीर ने अस्ति अथवा अस्तिकाय की व्याख्या के लिए दो नयों का आलंबन लिया—द्रव्यार्थक नय और पर्यायार्थक नय। अस्तिकाय अनादि-अनंत हैं इसलिए वे ध्रुव हैं। वे परिणमनशील हैं, पर्यायात्मक हैं इसलिए वे अध्रुव हैं, अनित्य हैं। इस नित्यानित्यात्मक विरोधी युगल के सह-अस्तित्व की स्वीकृति का दृष्टिकोण अनेकांत है।

सांख्य दर्शन द्वैतवादी है और जैन दर्शन भी द्वैतवादी है। अनेकांत का सम्बन्ध द्वैतवाद से नहीं है। उसका सम्बन्ध दो विरोधी द्रव्यों अथवा दो विरोधी धर्मों में सह-अस्तित्व स्थापित करने वाले समन्वय के नियम को खोजने से है। प्रत्येक अस्तिकाय में अनंत धर्म हैं और वे विरोधी युगलात्मक हैं। यदि वे परस्पर विरोधी ही होते तो अस्तित्व सुरक्षित नहीं रहता। विरोधी युगलों का अस्तित्व उसे समाप्त कर देता। उन विरोधी धर्मों में

---

* आचार्य महाप्रज्ञ से अनेकान्तवाद-स्याद्वाद पर एक लेख प्राप्त करने के उद्देश्य से मैंने उन्हें एक प्रश्न लिख कर भेजा। प्रश्न था कि इस मत के आधार में यह मान्यता है कि 'यथार्थ अनेक अवयवात्मक, अनेक पक्षात्मक है और हम उसके एक पक्ष या अंग को जानने पर उसीको उसका समग्र स्वरूप मान लेते हैं। यह सही है किन्तु यह दार्शनिक रूप से उतनी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। दार्शनिक रूप से महत्त्वपूर्ण दो बातें हैं - यह कैसे जानें कि जिसे आप अंग कह रहे हैं वह समग्र नहीं है? जिसे आप पक्ष कह रहे हैं वह पक्ष नहीं सर्व है? दूसरी बात यह कि यथार्थ को इसमें बाह्य और भूतवस्तुरूप ही देखा गया है जबकि आत्मा और उससे सम्बद्ध अनात्म भी यथार्थ है और उसका विवेचन दर्शन के लिए अधिक रोचक और महत्त्वपूर्ण होता है। उदाहरणतः दृष्टि की सम्यक्ता के विवेचन का विषय होता है, सूंड और हाथी के जैसा नहीं।(सम्पादक)

अविरोध के नियम को खोजना अनेकांत का मुख्य प्रयोजन है और अविरोध के नियम की सापेक्ष दृष्टि से व्याख्या करना स्याद्वाद का कार्य है।

अनेकांत का क्षेत्र केवल द्वैतवाद नहीं, अद्वैतवाद भी है। वेदान्त का अन्तिम सत्य ब्रह्म है। संग्रह नय का अन्तिम सत्य अस्तित्व है। उसमें चैतन्य और अचैतन्य का विभाग भी नहीं है। भूताद्वैतवाद अथवा चैतन्याद्वैतवाद—इन दोनों में क्रमशः अचैतन्य और चैतन्य की स्वीकृति है किन्तु पर-संग्रह नय में ये दोनों गौण हैं, केवल सत्ता की स्वीकृति है। इसलिए अनेकांत को एक, दो, तीन आदि की संख्या से जोड़ना अर्थवान् नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार मूल द्रव्य दो हैं—जीव और अजीव—किन्तु उनमें सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद नहीं है। यह भेदाभेदात्मक दृष्टिकोण अनेकांत का प्राणतत्त्व है। स्याद्वाद के द्वारा इस सत्य का प्रतिपादन इस प्रकार होगा—

1. स्यात्-कथंचित्, किसी अपेक्षा से जीव अजीव से भिन्न है।
2. स्यात्-कथंचित्, किसी अपेक्षा से जीव अजीव से अभिन्न है।

महान् दार्शनिक आचार्य अकलंक ने जीवन को चेतनाचेतनात्मक कहा। उनके अनुसार प्रमेयत्व आदि धर्मों से जीव अचिदात्मा है और चैतन्य धर्म से वह चिदात्मा है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्मात् चेतनाचेतनात्मकः॥

जीव और अजीव में सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद है यह सिद्धान्त संगत नहीं है। यदि सर्वथा भेद हो तो कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। यदि सर्वथा अभेद हो तो द्वैत नहीं हो सकता, माया, प्रतिबिम्ब आदि कुछ भी नहीं हो सकते। कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद—यह समन्वय का नियम है और इसी नियम के आधार पर जीव और अजीव में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इसके बिना चेतन और अचेतन—ये दोनों शब्द निरर्थक बन जाते हैं।

'स्यात्' इस शब्द के विषय में धारणाएं स्पष्ट नहीं हैं। सुप्रसिद्ध बौद्ध तर्कविद् 'धर्मकीर्ति' ने 'स्यात्' शब्द पर जो आक्षेप किया है वह उन जैसे सूक्ष्म मति वाले तार्किक द्वारा किया हुआ है, ऐसा सोचना भी शक्य नहीं है। उन्होंने लिखा—"यदि सब वस्तु दोनों, रूप है तो दही दही ही नहीं है वह ऊँट भी है अथवा ऊँट ऊँट ही नहीं है वह दही भी है, इस तरह दही में उसकी विशेषता को इन्कार करने से किसी को 'दही खा' कहने पर वह क्यों ऊँट पर नहीं दौड़ता?

यदि दही में कुछ विशेषता है, जिस विशेषता के साथ दही वर्तमान है, ऊँट नहीं, तब तो वह विशेषता अन्यत्र भी है, यह बात नहीं रही और इसीलिए, सब वस्तु दोनों रूप नहीं, बल्कि अपना ही अपना है और पर ही पर है।

शंकराचार्य से लेकर अब तक अधिकांश विद्वान् स्याद्वाद को संशयवाद के रूप में ही प्रस्तुत करते रहे हैं। इसकी दार्शनिक गहराई में जाने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। स्यात्

* प्रमाण वार्तिक 1/180-182

पद का प्रयोग द्रव्य की अनंत धर्मात्मकता को सूचित करता है। वह अनिश्चय अथवा संशय का सूचक नहीं है। एक क्षण में एक शब्द अथवा वाक्य के द्वारा एक साथ अनंत धर्मात्मक द्रव्य के अनंत धर्मों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इस अशक्यता के दोष का परिहार करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया गया। चैतन्य जीव-द्रव्य का समग्र स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार अचेतनता भी अजीव का समग्र स्वरूप नहीं है। चैतन्य और अचैतन्य—दोनों विशेष गुण हैं इसीलिए इनमें लक्षण बनने की क्षमता है। जब हम विशेष गुण के द्वारा द्रव्य का प्रतिपादन करते हैं तब उसमें विद्यमान शेष सामान्य गुणों का अस्वीकार नहीं कर रहे हैं, किन्तु वर्तमान में वे अविवक्षित हैं। इस सत्य को सूचित करने का दायित्व 'स्यात्' पद पर है। द्रव्य के अस्ति धर्म का प्रतिपादन करना द्रव्य की समग्रता का प्रतिपादन नहीं है और समग्रता का प्रतिपादन हो भी नहीं सकता। प्रतिपादन के दो उपाय हैं—

1. एक धर्म का प्रतिपादन।
2. एक धर्म के माध्यम से अनंत-धर्मात्मक द्रव्य का प्रतिपादन।

पहली पद्धति नयवाद की है। जैन-दर्शन में केवल अनेकांत ही मान्य नहीं है, एकांत भी मान्य है। प्रसिद्ध सूत्र है—

अनेकांतोऽप्यनेकान्तः, स्याद्वाद नयसाधनः॥

स्याद्वाद दार्शनिक जगत् में समग्र द्रव्य की प्रतिपादन-शैली का अभिनव विकास है। यदि धर्मकीर्ति वर्तमान युग में होते, उनके सामने हाईज़न्बर्ग का प्रोबेबिलिज्म–(सम्भावनावाद) का सिद्धान्त सामने होता तो स्याद्वाद पर इतना हल्का आक्षेप या व्यंग्य नहीं करते। दही एक पर्याय है। पर्याय पर्याय है। ऊँट भी एक पर्याय है। वर्तमान अवस्था में दोनों पर्याय भिन्न हैं किन्तु दही के परमाणु ऊँट के शरीर के परमाणु नहीं बन सकते अथवा ऊँट के शरीर के परमाणु दही के परमाणु के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकते यह लक्ष्मण-रेखा संक्रमण के सिद्धान्त में कोई नहीं खींच सकता। स्याद्वाद का यह प्रतिपादन भी नहीं है। उसका प्रतिपाद्य है—एक पर्याय में दूसरे पर्याय का प्रतिषेध, भावी पर्याय की सम्भावना का स्वीकार। दही ऊँट नहीं है और ऊँट दही नहीं ही है, स्याद्वाद का यह प्रतिपाद्य है। ऊँट दही भी है और दही ऊँट भी है, यह प्रतिपाद्य कतई नहीं है। वर्तमान पर्याय का अस्तित्व और भावी पर्याय का नास्तित्व बतलाने में ही स्यात् पद की कृतार्थता है।

जैन विश्वभारती,
लाडनूं (राज.)

आगम

रामसूर्ति त्रिपाठी

आगम : निगम

'निगम' अपौरुषेय निर्धारितानुपूर्वक श्रेयस्कर शब्दराशि विशेष है जबकि 'आगम' पौरुषेय अज्ञातकर्तृक है तथा निबद्ध और अनिबद्ध उभयात्मक है। निगम अस्मर्यमाणकर्तृक है और आगम स्मर्यमाणकर्तृक। निगम त्रैवर्णिक है और आगम सार्ववर्णिक। निगम याग-मार्ग है और आगम रागमार्ग। निगम सबका एक है पर आगम सबका अपना अलग-अलग — जो जिसके लिए फलीभूत हो वह उसका आगम है। आगम 'उपक्रम' है और निगम उपसंहार — इसलिए तत्त्वतः दोनों का अविरोध होने पर भी एक का स्वरूप अन्य के अनुरूप निर्धारित होता है। उपक्रम और उपसंहार से एक ही तत्त्व की चर्चा होती है पर उपक्रम प्रतिपाद्यभूत या वाच्यभूत उपक्रमण में नियमतः क्रियाशीलता की ओर केन्द्रित होता है जबकि निगम अपने वाच्यभूत अर्थ उपसंहरण में क्रियाशीलता की ओर इंगित नहीं करता — इसीलिए आगमसम्मत दर्शन प्रत्यभिज्ञा प्रकाशाद्वयवादी होता हुआ भी स्वयं विमर्शनात्मक क्रिया से अपने को शून्य नहीं मानता जबकि निगम का चूडान्त दर्शन अद्वैत वेदान्त प्रकाशतत्त्व को विमर्शमय या स्पंदात्मा नहीं मानता। ज्ञान और क्रिया के बीच क्रिया को महत्त्व देने वाले उपक्रम का ही पराक्रम अधिक मानते हैं और जो लोग क्रिया की अपेक्षा (प्रकाश) को ही अधिक महत्त्व देते हैं वे निगम का वैशिष्ट्य बताते हैं। अर्थात् जहाँ आगम भोग और मोक्ष दोनों को चरम प्रयोजन मानते हैं वहाँ निगम केवल मोक्ष को। इसीलिए आगमिक धारा का प्रत्यभिज्ञा दर्शन जहां जगत् को सत्य मानता है वहां निगम का चूड़ान्त अद्वैत दर्शन उसे मिथ्या मानता है। न्यायदर्शन के अनुसार 'आगम' प्रतिज्ञा है और निगमन 'सर्वेषामेकार्थ-समता-सामर्थ्य-प्रदर्शन' है — एक में सबका निर्वहण है। दूसरे विद्वान् 'आगम' में उपासना या राग की और 'निगम' में ज्ञान, उपासना तथा कर्म की प्रतिपादना देखकर कहते हैं — 'निःशेषेण गमो बोधो यस्मात् स निगमः'। इसके साथ ही 'आ ईषद् अंशतः उपासनाख्यांशस्य गमो बोधो यस्मात्स आगमः।' कहा भी कहा गया है —

अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् राग एव प्रशस्यते।

'आगम' शब्दार्थ निर्वचन

'निगम' से 'आगम' का अन्तर कर लेने के बाद व्युत्पत्ति के सहारे भी 'आगम' का स्वरूप निर्वचन सम्भव है, परिभाषाएं तो हैं ही।

(क) सामान्य (व्युत्पत्ति और परिभाषाओं के साक्ष्य पर)—

'आगम' शब्द को कुछ लोग 'रूढ़' मानते हैं और कुछ लोग 'योगरूढ़'। रूढ़ मानने वाले निम्नलिखित श्लोक का साक्ष्य देते हैं—

'आगतं शिववक्त्रातु गतं च गिरिजामुखम्।
मतं च वासुदेवन तस्मादागम उच्यते॥

इस श्लोक में 'आगत' 'गत' तथा 'मत' — पदों का आद्य अक्षर (आ ग म) ले लिया गया है और 'आगम' संज्ञा बना ली गई है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि वह शास्त्र 'आगम' है जो शिव के मुख से निकला हो, गिरिजा के मुख में गया हो और वासुदेव द्वारा मननगोचर हुआ हो। पर इस परिभाषा द्वारा अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं हो पाता, फलतः योगरूढ़ि से अर्थ ग्रहण करना उचित है। योग-रूढ़ अर्थ की ओर संकेत करते हुए स्वामी करपात्रीजी ने कहा है — 'आगच्छति - इति आगमः'। इसी को आधार बनाते हुए स्वामी सीताराम शरणजी ने कहा है — 'जो रहस्य या सत्य परम्परा या गुरु-परम्परा से आ रहा हो — वही आगम है। औरों ने भी इसे मान्यता प्रदान की है।

डॉ. शशिभूषण दास गुप्त, म.म.पं. गोपीनाथ कविराज तथा पं. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि तंत्र के नव व्याख्याकारों ने केवल भारतीय भूमि पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय भूमि पर भी इस धारा की गुह्य मंडलियों में अविगीत प्रसिद्धि स्वीकार की है और ऐसे संकेत संहिताओं तथा उपनिषदों से ढूंढ निकाले हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि निगम तथा आगमसम्मत रहस्य साधनाएं साथ-साथ प्रवाहित हो रही थीं। फिर जो सम्प्रदाय या उपासक इस अन्तःप्रवाहित धारा से जुड़ता गया वह आगमिक अन्तस्तत्व को अपने अनुरूप ग्रहण करता गया। मेरा यह विश्वास है कि जिस प्रकार विज्ञान के सत्य सार्वभौम होते हैं उसी प्रकार अध्यात्म विज्ञान के भी। इतना अवश्य है कि ज्ञान वस्तु के अधीन रहता है जबकि उपासना में वस्तु उपासक की इच्छा के अनुरूप गृहीत होती है। उपासना इच्छाधीन होती है अतः उस सन्दर्भ में उपासक की इच्छा, तृप्ति के लिए आराध्य तदनुरूप गृहीत होता रहता है। मतलब, ज्ञान वस्तु के और भक्ति (उपासक की) इच्छा के अधीन होती है। इस प्रकार उपासक की उपासना में तत्त्व का रूप उसकी स्वारसिकी वासनावश भिन्न-भिन्न हो सकता है।

आगम के योगरूढ़ अर्थ का दार्शनिक स्तर पर भी व्याख्यान हुआ है जिसका समय-समय पर पौराणिकीकरण भी होता रहा है। 'आगम' शब्द की व्याख्या करते हुए 'स्वच्छन्द तंत्र' में कहा गया है–

आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः।

गति या गम ज्ञान ही है — आगम एक ऐसा परिपूर्ण ज्ञान है जो सर्वतोमुखी और सम्यक् है। टीकाकार ने मूलकार के आशय का उपबृंहण करते हुए कहा है—

अनन्ताः शास्त्रकोटयः यः पारमेश्वर आगमः तज्ज्ञानपराःशक्तिस्फाररुपमित्युक्तम्। आसमन्तात्तु गमयति अभेदेन परामृशति पारमेशं रूपमिति कृत्वा या पराशक्तिः सैवागमः तत्प्रतिपादकः शब्द सन्दर्भः तदुपायत्वात् शास्त्रस्य।

अर्थात् अनन्तशास्त्र कोटियां ही पारमेश्वर आगम है। वह ज्ञानमयी है। शक्ति का ही वह विस्फार है अथवा तत्त्वतः वह शक्ति ही आगम है जो अभिन्न रूप से पारमेश रूप का विमर्शन कराती है — तत्परक शब्द-सन्दर्भ और स्वरूप-विमर्श में उपायभूत तत्तत् शास्त्र भी आगम पदवाच्य हैं। शब्द के बिना न स्वयं विमर्शन सम्भव है और न ही अन्यत्र उसकी संक्रान्ति। अतः विमर्शन में उपयोगी होने के कारण शब्द को भी आगम कहा जाता है। आगमों में परस्पर विरोधी अर्थ भी होते हैं। उसका कारण वस्तुतः जिस साधक का जिस शब्द में दृढ़ विमर्श या विश्वास हो वही उसका आगम है। व्यक्तिभेद से जिस प्रकार उपचार और निदान भिन्न होता है वैसे ही साधक के संस्कार-भेद से उसके अपने मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। फलतः जिसका जो शब्दात्मक आगम है वह उससे जैसे भी विमर्शन करेगा उसके लिये वैसा ही घटित होकर रहेगा। उसका प्रामाप्य तर्क — सापेक्ष नहीं, अपितु प्रसिद्धि और क्रमागत परम्परा से प्राप्त होने के कारण स्वयं है। इस दृष्टि से शैव और वैष्णव शास्त्र ही आगम नहीं हैं — बौद्ध और जैन शास्त्र भी आगम हैं — वे भी नियत व्यक्ति विशेष से प्रकाशित नहीं हैं — अपितु परम्परा से उनके आगम भी चले आ रहे हैं। इसी आधार पर डॉ. के. सी. पाण्डेय का कहना है कि इस दृष्टि से न केवल भारतभूमि पर उपलब्ध धार्मिक पुस्तकों के पाठ प्रमाण हैं अपितु 'कुरान' और 'बाइबिल' भी प्रमाण हैं। जैन और बौद्ध परम्परा भी यही मानती है कि जिन और बुद्ध समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं — वे व्यक्ति नहीं जाति हैं। मिलिन्द ने बुद्ध के लिए बौद्ध परम्परा में और जैनों के लिए जैन परम्परा में भी यही प्रसिद्धि बताई है।

आगम का अर्थ अवतरण भी है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए आगमिकों ने बताया है कि आगम मूल में परावाक् के रूप में रहता है। वही पश्यन्तीभाव में अवतीर्ण होकर मध्यमा भाव में स्थित होती है — तब परिमित प्रमाता के द्वारा अधिकृत होती है। वस्तुतः प्रकाशमय शिव के स्वभाव में स्थित यह व्यापार प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों का उपजीव्य है — इसलिए वह पर-प्रमाता का व्यापार होने से नित्य माना जाता है। इसे और स्पष्ट किया जाय तो यह कहना होगा कि चरम सत्य रूप परावाक् परपरामर्शमय बोध रूप है। वही विभिन्न अवस्थाओं में रूपान्तरित होती है। 'पश्यन्ती' उसी की बहिर्मुख अवस्था है। इसी बहिर्मुखी भाव में परबोधात्मक शास्त्र 'अहमित्याकारक परामर्श रूप में अन्तर में उदित होता है। उस भूमि के प्रत्यवमर्श प्रमाता द्वारा परामृष्यमाण वाच्यार्थ रूप में नहीं अपितु अहन्ताच्छादित होकर प्रतीत होता है। उसके बाद तीसरी अवस्था आती है — मध्यमा। यहाँ परवर्ती 'पश्यन्ती' का आन्तरविमर्श विततरूप में — वाच्यवाचक भाव रूप में उल्लसित होता है। फिर भी यहाँ यह भेद नहीं है जो वैखरी स्तर पर होता है। यह भूमि कई दृष्टियों से महत्त्व की है। यही वह भूमि है जहाँ परसत्ता चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप पंचमुख का प्रकाश करती है और सदाशिव तथा ईश्वर दशा का आश्रय लेकर गुरु-शिष्य भाव का परिग्रह धारण करती है। इसी परम्परा से आगम का अवतरण होता है। वैखरी भूमि पर यह स्फुटतर होता है — मध्यमा भूमि पर स्फुट रहता है।

यही वह भूमि है जहाँ चिरमरीचिमय मंत्रों का उदय होता है। यहाँ वर्ण-समष्टिमय मंत्र चैतन्य या जागृत होते हैं — पर वैखरी स्तर पर शब्द जड़ होता है। वे केवल मध्यमा स्तर के मंत्रों के स्मारक होते हैं। मंत्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश करती रहती है। वैखरी का स्थान स्थूल है — यहीं से यह मुद्रित होती है। इसके मूल में मानसिक चिन्ता, मनोगत भाव या अर्थ जड़ीभावापन्न हो जाते हैं। यही वह भूमि है जहाँ शब्द और अर्थ का भेद स्पष्ट होता है। इस भूमि में स्मृति परिशुद्ध नहीं होती — स्मृति में सांकर्य रहता है - स्मृति - परिशुद्धि के द्वारा सांकर्य का निराकरण होता है — यह निराकरण मध्यमाभूमि में आरूढ़ होने का आनुषंगिक फल है। वाक् के साथ प्राण और मन का तो अविनाभाव सम्बन्ध है ही, चित् का भी सम्बन्ध है — पर वह यहाँ आवृत रहता है। दीक्षा और अभिषेक से मध्यमा भूमि पर आरोहण होता है। पशुभाव (वैखरी) से दिव्यभाव (पश्यन्ती) आने के लिए मध्यमा मध्यवर्ती भूमि है।

मध्यमा भूमि में ही परावाक् पंचमुखी आत्मप्रकाशन करती है — इसी का पौराणिकीकरण हुआ है और कहा गया है कि शिव (सदाशिव) के पंचमुख से शैवागमों का उद्धार हुआ है। कहा गया है—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरै र्वाक्यैः तंत्रं समवतारयत्॥

सदाशिव विमर्शशक्ति संविद् को ही शिष्य बनाकर आगम को अवतीर्ण करते हैं। यह वह भूमि है जहाँ नित्यसिद्ध विभव ज्ञान नाद रूप से प्रकाशित होता है, इसके अतिरिक्त यह नाद और कुछ नहीं। शिव तत्त्व में शक्ति का सतत चलन स्पंदन ही है, या चित् शक्ति के स्फुरण से महामाया का अवाङ्मुख होता है और यही चलन शब्द का मूल है। शिव कारण है और सदाशिव से भूमि पर्यन्त सभी कार्य हैं। शिव ही अमूर्त सादाख्य, मूर्तसादाख्य, कर्तृसादाख्य, कर्मसादाख्य और शिवसादाख्य रूप में पंचमुख है — इन्हीं का नामान्तर वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, सद्योजात और ईशान है। 64 शैवागम इन्हीं मुखों से निःसृत हैं। ये पांचों मुख मंत्रमय हैं — इन्हीं से दिव्यागम प्रसूत है। ये पाँच सादाख्य नाम देवादि पंचभूमियाँ हैं। ये ही पांच आम्नाय हैं।

2, स्टेट बैंक कालोनी,
देवास रोड, उज्जैन (म. प्र.)

शांकर दर्शन की वैदिकता

बी. कामेश्वर राव

आचार्य शंकर के दर्शन (या पंथ/मत) को वैदिक दर्शन माना जाता है। शंकर के कुछ आलोचक अवश्य उन्हें बौद्ध मानते हैं तथापि शांकरवादी बड़ी ही कुशलता के साथ शांकर व बौद्ध मतों की असमनताओं को प्रकाशित करके समानता को किसी तीसरे पक्ष के प्रभाव के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। "औपनिषदिक विज्ञानवाद के विकास-क्रम में बौद्ध विज्ञानवाद पूर्वभूमि और अद्वैतवेदांत उत्तरभूमि है।"[1] संयोग से यह तीसरा पक्ष अर्थात् 'उपनिषद्' वैदिक वाङ्मय का अंग है। अतः 'प्रच्छन्न बौद्ध' के आक्षेप के परिहार का यह प्रयास 'प्रच्छन्न बौद्धत्व' का निराकरण तो नहीं करता वरन्, इसके विपरीत, बौद्ध दर्शन को भी 'वैदिक' घोषित कर देता है। बौद्ध मत को प्रच्छन्न वैदिक घोषित करना या शांकर और बौद्ध मतों को स्पष्टतः वैदिक मानना कहां तक उचित है — यह सम्प्रति हमारे विचार का विषय नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम केवल शांकर दर्शन की वैदिकता पर ही विचार करेंगे।

किसी भी दर्शन को 'वैदिक' कहने में निम्नलिखित अर्थ या कसौटियां मान्य हो सकती हैं—

1. वेदों में निहित दर्शन,*
2. वेदों के आधार पर निर्मित दर्शन,
3. वेदों के आधार पर रचे गए ग्रंथों का दर्शन,
4. वेदों के आधार पर, वेदों को प्रमाण मानकर रचे गए ग्रंथों में निहित मान्यताओं के अनुरूप दर्शन।

उपर्युक्त कसौटियों में से किसी एक भी अर्थ के साथ अनुरूपता के अतिरिक्त एक निषेधात्मक कसौटी भी हैजो किसी दर्शन के वैदिक या अवैदिक होने में महत्त्वपूर्ण है। किसी भी दर्शन के विकसित अथवा परिष्कृत रूप में ऐसी कई मान्यताओं का जो मूल दर्शन में न हों, का आ जाना स्वाभाविक है। तब भी उक्त विकसित या परिष्कृत दर्शन में उसकी अपनी विशिष्टता कही जाने वाली मान्यताएं मूल दर्शन की प्रमुख मान्यताओं की विरोधी न हों, यह आवश्यक है। किसी भी दर्शन को वैदिक तभी माना जा सकता है जब वेदों में निहित मान्यताओं की विरोधी या उन्हें खण्डित करने वाली मान्यताएं उस दर्शन में न हों।

---

* 'वेदों' से यहां हमारा आशय मंत्र भाग या संहिता मात्र से है।

शांकर दर्शन को उपर्युक्त कसौटियों पर परखने से पूर्व उन मान्यताओं का उल्लेख करना आवश्यक है जिन्हें हर शांकर वेदान्ती स्वीकार करता है और जिन्हें अस्वीकार करने पर वह दर्शन 'शांकर' नहीं रह जाता। वे मान्यताएं हैं—

1. ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है।[2]

2. ब्रह्म निर्गुण, अविकारी, अपरिणामी, निरवयव, शुद्ध चैतन्य स्वरूप है।

3. जीवात्मा और ब्रह्म में तत्त्वतः अभेद है, इनमें भेद सत् नहीं है।

4. जगत् न तो ब्रह्म का परिणाम है और न ही किसी सत् पदार्थ से ब्रह्म द्वारा रचित है।

5. जगत् ब्रह्म पर आरोपित अध्यास है। यह परमार्थतः मिथ्या है।

उपर्युक्त सभी मान्यताएं परस्पर घनिष्टतः सम्बन्धित हैं। अतः इनमें से एक भी मान्यता असंदिग्ध रूप से वैदिक प्रमाणित हो तो शांकर दर्शन को वैदिक कहा जा सकता है। इसके विपरीत एक भी मानयता वेद विरुद्ध हो तो उसे अवैदिक कहा जाएगा।

शांकर दर्शन वेदों में निहित दर्शन है — यह सिद्ध करने के दो उपाय हैं। एक तो यह दर्शाना कि स्वयं शंकर ने अपने मत की पुष्टि में वेदों को उद्धृत किया है और दूसरा यह दर्शाना कि वेदों में शंकर का मत स्पष्टतः उपलब्ध है। शंकर का दर्शन स्पष्ट और स्वतंत्र रूप से शारीरक भाष्य में प्रस्तुत हुआ है। शारीरक भाष्य में वेदों को लगभग पन्द्रह बार उद्धृत किया गया है। शारीरक भाष्य (1/1/22) में ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् (ऋ1/164/39) में ब्रह्म के लिए 'आकाश' शब्द के प्रयोग को प्रामाणित करने के लिए सूत्र 1/2/23 के भाष्य में हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे . . . (ऋ. 10/121/1) को ब्रह्म को भूतयोनि निरूपित करने के लिए उद्धृत किया गया है। इयं वितृष्टिर्यत आवभूव — (ऋ. 10/129/7) को सूत्र 2/1/6 के भाष्य में जगत्कारण की दुर्बोधता दर्शाने के लिए उद्धृत किया गया है। सूत्र 1/3/30 के भाष्य में हर कल्प में समान नाम रूप में सृष्टि दर्शाने केलिए 'सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्' — (ऋ. 10/190/3) को उद्धृत किया गया है। नासदीय सूक्त के एक अंश को प्राण की नित्यता निरूपित करने वाले पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करने के लिए उद्धृत किया गया है। शेष उद्धरण भी इसी तरह शांकर मत की मुख्य मान्यताओं की दृष्टि से अनुपयोगी ही हैं।

शारीरक भाष्य में वेदों को अपने मत के समर्थक रूप में दिखाने में शंकर की कोई रुचि नहीं दिखलाई पड़ती। इस के विपरीत लौकिक प्रमाणों के साथ-साथ वैदिक प्रमाण-व्यवहार को भी वे अविद्याजन्य आत्मानात्म अध्याय-युक्त मानते हैं।[3] वैदिक प्रमाण से क्या अभिप्राय है — यह शंकर ने स्पष्ट नहीं किया। हमारे विचार से वैदिक प्रमाण के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो वेदों में कही गई बातों की 'प्रमाणरूपता' और दूसरा वेदों से आपादित अन्य वचनों की 'प्रमाणरूपता'। स्वयं शंकर ने उपनिषद् आदि वैदिक वचनों को प्रमाण रूप में बार-बार प्रस्तुत किया है। इसलिए उनके द्वारा वेदमंत्रों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करने के प्रति उदासीनता अप्रत्याशित या अनपेक्षित नहीं कही जा सकती।

शारीरक भाष्य में शंकर अपने मत के समर्थन में वेदों को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत नहीं कर सके लेकिन सम्भव है कि वेदों में ब्रह्म, जगत्, सत् जैसी शांकरी मान्यताओं का स्पष्ट या संकतेरूप में उल्लेख मिलता हो। डॉ. चन्द्रधर शर्मा लिखते हैं, "वैदिक दर्शन में संहिता से लेकर उपनिषद् तक इसी अद्वैतवाद का विकास हुआ है।" अपने मत की पुष्टि में हम वेदों के निम्नांकित उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

उस एक सत् का ही विद्वान अनेक रूपों में वर्णन करते हैं।

पुरुष ही यह सब कुछ है। भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ था, है या होगा, वह सब पुरुष ही है।

वह प्रकाशमान अपरिमेय तत्त्व अदिति है . . . जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उत्पन्न होगा, वह सब अदिति ही है।[4]

तीनों उद्धरण क्रमशः ऋ 1/164/46, पुरुष सूक्त, ऋ 1/89/10 के हैं। डॉ. अभेदानन्द के अनुसार ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त और छठे मण्डल में 'रूपं रूपं प्रतिरूपों वभूव' में अद्वैत वेदान्त के 'जगन्मिथ्यात्वं के बीज हैं।'[5]

प्रथम उद्धरण में 'एकं सदविप्राः बहुधा वदन्ति' — अद्वैतवादियों का बहुत प्रिय वचन है। ऋग्वेद के इस पूरे मंत्र का भावार्थ है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, अग्नि आदि एक ही दिव्य परमात्मा के नाम हैं, जिसे विद्वान अनेक नामों से कहते हैं। इस मंत्र से यह तो सिद्ध होता है कि विभिन्न नामों से पुकारे जाने वाले परमात्मा का सत् स्वरूप एक ही है लेकिन परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति, जगत् आदि या जीव सत् नहीं है — ऐसा कोई संकेत इसमें नहीं है। इस मंत्र को एकेश्वरवादी तो माना जाता सकता है, अद्वैतवादी बिलकुल नहीं।

द्वितीय उद्धरण का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि पुरुष ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है। लेकिन उद्धृत वाक्य के शेषांश में 'यत अन्नेन अतिरोहति' इसमें जो कुछ प्रकृति से उत्पन्न हुआ 'उस सब' का स्वामी अमृत पुरुष है, यह कह कर पुरुष से भिन्न प्रकृति (अन्न) की सत्ता की स्वीकृति का संकेत मिलता ।[6] इस में 'पुरुष एव इदम् सर्वं' का शाब्दिक अर्थ न लेकर 'सर्व' में उसके व्यापकत्व के अर्थ में ग्रहण करना होगा क्योंकि इससे पूर्व के मंत्र में भी पुरुष के सहस्रशीर्षः सहस्रपाद आदि रूप वर्णन में उसकी व्यापकता का ही संकेत है। अतः इस मंत्र का शाब्दिक अर्थ लेना तो काव्यमय अभिव्यक्ति की भाषाशास्त्रीय शाल्यक्रिया जैस होगा और तब भी इसमें जगत् के मिथ्यात्व का या मात्र पुरुष की ही सत्ता-स्वीकृति की घोषणा अर्थात् अद्वैतवाद की घोषणा नहीं मिलती।

तीसरे उद्धरण में सर्वकारणरूप 'अदिति' का उल्लेख है। अदिति शब्द यहां जगत्कारण के अर्थ में तो है परन्तु यह कारण चेतन ब्रह्म (शांकर ब्रह्म) है, ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है। अदिति चेतन परमात्मा वाची माना भी जाय तो इस मंत्र से ब्रह्म परिणामवाद का संकेत मिलता है। या फिर जैसा कि उदयवीर शास्त्री कहते हैं — "यह अदिति सम्बन्धी दृश्यादृश्यजगद्रूपता का वर्णन उसके 'प्रकृति' होने को स्पष्ट सिद्ध करता है।"[7] श्री शास्त्री

ने निघण्टु और निरुक्त के व्याख्याकारों को उद्धृत करते हुए अदिति को प्रकृति के अर्थ में ग्रहण करने के लिए स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत किया है। निघण्टु की व्याख्या में देवराज यज्वा लिखा है — 'अदितिः . . . आत्मपक्षे प्रकृतिः' तथा "अध्यात्ममपि अदितिः प्रकृतिः कारणं ब्रह्म".[8] प्रकृति को ब्रह्म कहना वैदिक साहित्य में विचित्रता नहीं है। वास्तव में ब्रह्म शब्द चेतन परमात्मा मात्र का पर्याय न होकर व्यापकता का द्योतक है। दर्शन के कालान्तर साहित्य में 'ब्रह्म' अज अविनाशी तत्त्व के अर्थ में स्थापित हुआ। इस अर्थ में भी प्रकृति की ब्रह्मरूपता को स्वीकार किया गया है।

नासदीयसूक्त में 'न असत् आसीत् न सत् आसीत्' के आधार पर शांकर मतानुसार सदसद्विलक्षणता को ग्रहण करके जगन्मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। शंकर के अनुसार 'सत् त्रिकालाबाध' है और असत् आकाश कुसुमवत् अनस्तित्ववान है जिसे इन दोनों ही कोटियों में न रखा जा सके वह विलक्षणत्व ही मिथ्यात्व है। लेकिन नासदीयसूक्त में सत् असत् का क्या वही अर्थ है जो शांकर अभिमत है? मंत्र में, और आगे कही गई बातों से शांकर मत का कहीं संकेत नहीं मिलता। प्रथम मंत्र में न सत् न असत् की कल्पना 'तदानीम्' विषयक है अर्थात् तब (सृष्टि से पूर्व) न सत् था न असत्। शांकर मत में सदसद्विलक्षणत्व सृष्टिकाल में दृश्यमान 'नामरूपात्मक जगत्' में माना जाता है जबकि उक्त मंत्र में यह स्थिति सृष्टिपूर्व की है जिसे अगले मंत्र में और स्पष्ट कर दिया गया है — 'न मृत्युः आसीत् अमृत न तर्हि न रात्र्याः' . . . मृत्यु और अमृतत्त्व का संदर्भ 'परिवर्तनशील अस्तित्व है'। यदि परिवर्तनशील अस्तित्ववान् कुछ है तो मृत्यु की सम्भावना और अमृतत्त्व की कल्पना सम्भव है। 'ये दोनों ही नहीं थे' का आशय है कि ऐसा कुछ भी नहीं था जो मृत या अमृत हो सके। फिर मंत्र में आगे कहा गया 'आतीत् अवातं स्वधया तद् एकम' इस अंश की द्वैतवादी व्याख्या करने वालों[10] के अनुसार — अवातं (बिना प्राण वायु के) एक प्रकृति के साथ (स्वध्या) था — ऐसा इस मंत्राश का भाव है। एकत्ववादी व्याख्या के अनुसार 'एकं अवातं' अपने स्वभाव या स्वयंभू स्वरूप में था। यहां 'स्वध्या' से अभिप्राय 'शक्ति सहित' लिया गया। लेकिन सूक्त के पांचवें मंत्र में 'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' कहा है। इससे वहां स्पष्ट ही स्वधा को अवर-अपकृष्ट और उसके नियन्ता चेतन (प्रयति) को पर-उत्कृष्ट (परस्तात्) बताया गया है। ऐसी स्थिति में माया रूप शक्ति को ब्रह्म का अपना रूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी सत्ता का स्वभाव या उसकी शक्ति उससे उत्कृष्ट या अपकृष्ट नहीं कही जाती। जो भी हो चाहे नासदीय सूक्त को द्वैतवादी माने या एकत्ववादी, व्याख्या भेद के रूप में दोनों ही मान्य हो सकते हैं। तो भी इससे 'स्वधा' के मिथ्या होने या प्रयति की वास्तविक शक्ति न होने का लेशमात्र भी संकेत नहीं मिलता।

'रूपं रूपं प्रतिरूपों वभूव . . .' (ऋ. 67/47/18) द्वारा इन्द्र के अनेक रूपों की बात की गई है। यदि यहां इन्द्र परमात्मा का द्योतक है तो इसे 'एकं सद् विप्राः बहुधावदन्ति' का ही रूप कहा जा सकता है लेकिन इस सूक्त में भी विवर्तया शांकर माया का कहीं

संकेत नहीं है। बहुत आग्रह हो तो यहां परिणामवाद स्वीकार किया जा सवता है। इस तरह पूर्वोक्त वेद मंत्रों के उद्धरणों में शांकरमत का कहीं नाममात्र का संकेत भी नहीं है।

शांकर मत का वेदों में संकेत ढूंढना जितना क्लिष्ट कल्पनात्मक है उतना ही स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से त्रैतवाद, एकत्ववाद या द्वैतवाद उपलब्ध है। नासदीय सूक्त का द्वैतवाद, पुरुष सूक्त का एकत्ववाद और 'द्वा सुपर्णा' — (ऋ. 1/164/20) का त्रैतवाद स्पष्ट है। यद्यपि वहां व्याख्या भेद से तीनों का समन्वय भी किया जा सकता है, जबकि शांकर अद्वैतवाद का निरूपण केवल खींचतान ही होगी। अतः वेदों में निहित दर्शन के रूप में शांकर दर्शन वैदिक नहीं कहा जा सकता।

उपनिषदों को वैदिक साहित्य का अंग माना जाता है। शांकरमत के आग्रही विद्वान भी शांकर दर्शन को वेदों के बजाय उपनिषद् मूलक ही पाते हैं। उपनिषद्-दर्शन और शांकर-दर्शन के परस्पर सम्बन्ध के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं—

1. सभी उपनिषद् एक दर्शन के प्रतिपादक हैं और वह शांकर दर्शन है।

2. उपनिषदों में कई सिद्धान्तों का संकते है, उनमें से एक शांकर दर्शन का आधार है।

प्रायः शांकर मताग्रही विद्वान मानते हैं कि शंकराचार्य का अद्धैत वेदान्त ही वस्तुतः औपनिषद दर्शन है।[11] शारीरक भाष्य में वेदों से मात्र चौदह/पन्द्रह उद्धरण और उपनिषदों के दो हजार से भी अधिक उद्धरण भी इस बात का आग्रह दर्शाते हैं कि शांकर की रुचि अपने दर्शन के औपनिषद निरूपित करने में ही अधिक थी। शांकर विद्वान उपनिषदों से अनेक उद्धरण 'श्रुति' के रूप में अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं। उन सभी का परीक्षण यहां सम्भव नहीं है। अतः कुछ महत्त्वपूर्ण उद्धरणों पर ही विचार किया जाएगा।

सर्वप्रथम हम इस मत को उपनिषदों में देखें कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। शांकर मत में सत् वह है जिसका तीनों कालों में बाघ न हो। नाशवान और परिवर्तनशील अस्तित्वों को सत् नहीं कहा जा सकता। सत् की यह अवधारणा शांकरमत की पूर्वमान्यता है। 'ब्रह्म ही सत् है अन्य कुछ नहीं' — इस मान्यता का उपनिषद्-संदर्भ में रूप होगा उपनिषदों में वर्णित ब्रहम् ही सत् है। शांकर मत की दृष्टि से इसमें यह तथ्य और जोड़ना होगा कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप तत्त्व ही सत् है — और उसे ही उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है — का एक निहितार्थ यह भी है कि अचेतन या 'जड़' सत् नहीं है अतः वह ब्रह्म नहीं है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है[12] — अज्ञ, ईश-अनीश, दो अजनमे तत्त्व हैं और एक अजा तत्त्व — प्रकृति है जो भोक्ता के भोगार्थ है। विश्वरूप आत्मा अनन्त और अकर्ता है। जब इन तीनों को ब्रह्म जान लेते हैं — (तब) विश्व माया से निवृत्ति हो जाती है। यहां वर्णित तीन तत्त्वों को एक ब्रह्म के तीन रूप मानें तो या फिर तीनों की ब्रह्म संज्ञा मानें तो यह त्रैतवाद या रामानुजीय मत का बोधक तो हो सकता है अद्वैतमत का

संकेत तो लेशमात्र भी नहीं। यहां तीन अज तत्त्वों का उल्लेख करके उनमें से एक को अनन्त, अकर्ता (जो कि निश्चय ही ज्ञ और ईश है) कहा गया। इस एक के चिन्तर और ध्यान से मायानिवृत्ति की बात अगले श्लोक में कही गई है। इसी क्रम में इस एक नित्य आत्मस्थ तत्त्व को जानने योग्य बताते हुए भोक्ता भोगय और प्रेरक — त्रिविध ब्रह्म का उल्लेख किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में और भी अधिक स्पष्टता से त्रैतवाद की घोषणा की गई है।[13] इन प्रसंगों में यदि ब्रह्म शब्द का एकही अर्थ माना जाय और वह भी चैतन्य स्वरूप तब तो ब्रह्म परिणामवाद ही निगमित होगा लेकिन तब तीन अज का उल्लेख निरर्थक होगा। साथ ही यहां अलग-अलग स्तर (व्यवहार परमार्थ) पर त्रिविध ब्रह्म की स्वीकृति का भी कोई संकेत नहीं है। अतः यहां ब्रह्म शब्द का अर्थ अज अविनाशी तत्त्व के रूप में ही लेना होगा। साथ ही इस पूरे प्रसंग को 'व्यावहारिक दृष्टि' कहना भी असंगत होगा क्योंकि इस प्रसंग का प्रारम्भ उन प्रश्नों से हुआ है जिन्हें परमार्थ जिज्ञासा ही माना जा सकता है और उत्तर ध्यान योगानुगत साक्षात्कृत ज्ञान के रूप में दिया गया है।[14]

अद्वैत स्थापना के लिए, नानात्व के निषेध के लिए श्रुति प्रमाण के रूप में 'नेह नानास्ति किंचन' को प्रायः प्रस्तुत किया जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह श्लोक इस प्रकार है—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन्।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानैवपश्यति (4-4-19)

यह श्लोक परमात्मा, सर्वस्य कर्ता (4-4-13) प्राणस्य प्राणम् ब्रह्म पुराणम् अग्रयं (4-4-18) के महिमा वर्णन के क्रम में आता है। कठोपनिषद में भी उस स्वयंभू आत्मा के वर्णन के क्रम में यह बात कही गई है जिसने इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दिया है (सृष्टिकर्ता रूप आत्मा) और कहा गया है कि इह और अमुत्र में भी वही व्याप्त है। इसमें जो नानात्व देखता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार जिस नानात्व का निराकरण या विरोध यहां किया गया है वह परमात्मा सृष्टिकर्ता, ब्रह्म के नानात्व का है न कि सृष्टि में नानात्व का। अतः इसे अद्वैत सम्मत नानात्व विरोध के रूप में प्रस्तुत करना अप्रासंगिक है।

बादरायण कृत सूत्र 3/2/36 के अपने भाष्य में शंकर कुछ उपनिषद् वाक्यों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत कर के कहते हैं — 'इत्येवमादि वाक्यानि ब्रह्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तरं वारयन्ति।' ये वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय 7 के 25वें खण्ड में है। वाक्य है — स एवाधस्तात्, अहमेवाधस्तात् आत्मैवाधस्तात, आत्मैवेदं सर्वं आदि। छान्दोग्योपनिषद् के इस प्रसंग को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन वाक्यों का ब्रह्मव्यतिरिक्त 'अन्य' सत्ता के प्रतिभेद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

छान्दोग्योपनिषद्, सप्तम् खण्ड में नारद के सनतकुमार से संवाद का वर्णन है। नारद द्वारा सनतकुमार से उपदेश का अनुरोध करने पर सनतकुमार नारद से उनके ज्ञान को पहले

प्रस्तुत करने को कहते हैं। उत्तर में नारद ऋग्वेद, यजुर्वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, गणित, नीतिशास्त्र आदि का उल्लेख करते हैं। सनतकुमार नारद के इस ज्ञान को व्यर्थ या मिथ्या न कह कर कहते हैं यह जो सब नाम है, जो नाम की ही ब्रह्मरूप में उपासना करते हैं; उनकी गति वहां तक है जहां तक नाम है। इसी तरह नाम से वाणी, वाणी से मन, मन से संकल्प, इस प्रकार चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न आदि सभी की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए इनके फल की सीमा का ज्ञान कराया जाता है। इसी क्रम में सुख की महत्ता का प्रतिपादन किया जाता है। इस पर नारद ने सुख क्या है — ऐसी जिज्ञासा की। 'नाल्पे सुखमास्ति भूमैव सुखम्' कहकर सनतकुमार ने भूमा को जानने योग्य घोषित किया। भूमा की जिज्ञासा नारद द्वारा किए जाने पर भूमा अर्थात् असीम को समझाया गया है। बुद्धि के लिए शब्दों में असीम को समझाना दुष्कर है। किसी भी ज्ञेय को दृष्टांत रूप में प्रस्तुत करने पर उक्त ज्ञेय तक ही बुद्धि सीमित हो जाती है। यही क्रमशः वाणी, मन, संकल्प आदि को समझाते समय बताया गया है। असीम को जानने के लिए ज्ञेय या अन्य से मुक्त होना होता है। इसीलिए सनतकुमार उपदेश देते हैं—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' लेकिन अन्य को न देखें, न सुने, न जाने — ये सब तो भूमा को स्पष्ट नहीं करते। इनमें तो केवल जो अन्य या सीमित (ज्ञेय) भूमा नहीं है — वही समझ में आता है। इसीलिए भूमा को समझाने के लिए पुनः समस्त दिशाओं में व्याप्तता को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं — 'स भूमा स अधस्तात् — स एवेदम् सर्वं' जब यह समस्त संसार ही असीम है तो सीमित बुद्ध्यादि साधनों से इसे कैसे जाना जा सकता है? इसलिए समस्त को अहं (आत्मभाव) से ही जानना चाहिए, इस रूप में कि 'अहमेवाधस्तात् . . . ' आदि; क्योंकि समसत अन्य (ज्ञेय) आत्मा से ही ज्ञेय है या आत्माश्रित ही है (7/26/1) इस प्रकार यह पूरा प्रकरण 'आत्मा वाअरे द्रष्टव्यं' ही का निरूपण है। शंकर द्वारा प्रस्तुत वाक्य वास्तव में आत्मज्ञान हेतु 'धारणा' या 'आटो-सजेशन' के रूप में है। इससे ब्रह्म व्यतिरिक्त सत्ता का निवारण या प्रतिषेध सिद्ध करना केवल 'काकदन्तगवेषणा' या अध्यास मात्र है।

बादरायण सूत्र तथा अन्य प्रतिषेधात् के ही भाष्य में श्वेताश्वतर उपनिषद् को शंकर उद्धृत करते हैं — यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् — इसे वे ब्रह्म से अन्य सत्ता के निषेध के अर्थ में लेते हैं। यदि यहां भी प्रसंग पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल परम पद प्राप्ति हेतु जानने योग्य परम पुरुष के — अर्न्तयामित्व, सर्वव्यापित्व आदि का प्रशंसात्मक वर्णन मात्र है। इससे किसी अन्य की सत्ता का निषेध नहीं होता। इसके विपरीत 'वृक्ष इस सतब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्ण पुरुषेण सर्वं' में 'जिसमें' यह पुरुष व्याप्त है 'उसकी' सत्ता की स्वीकृति निहित है।

'तत्तुसमन्वयात्' सूत्र के भाष्य में तत्तवमसि, अहंम्ब्रह्मास्म और अयमात्मां ब्रह्म आदि वाक्यों को जीवात्मा ब्रह्म में सत्तामूलक अभेद या एकत्व के प्रतिपादनार्थ प्रस्तुत माना गया है। देखें, उपनिषद् क्या कहते हैं इस विषय में। बृहदारणयक उपनिषद् (1-4-10) के

जिस अंश को शंकर उद्धृत करते हैं वह है 'अहंब्रह्मास्मि'। पूरा वाक्य इस प्रकार है — "ब्रह्मवा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानमेवावेत अहम्ब्रह्मास्मि इति, तस्मात् तत| सर्वम् अभवत्" पहले यह ब्रह्म ही था, उसने जाना/सोचा — मैं ब्रह्म हूं, अतः वह सब कुछ हो गया। ध्यान देने की बात यह है कि यहां आत्मा ही पहले था, उससे जाना कि मैं ब्रह्म हूं — ऐसा नहीं कहा गया। अतः ब्रह्म और आत्मा के एकत्व की यहां कल्पना ही नहीं की जा सकती। इससे पूर्व (1-4-1) में कहा गया है कि "आत्मैवेदम अग्र आसीत् पुरुषविधः — सोऽहमस्मीति अग्रे व्याहरत ततो अहम् नाम अभवत् अर्थात् यह (सब) पहले आत्मा ही था उसने पहले कहा 'मैं हूं' इससे मैं संज्ञा (नाम) उत्पन्न/व्यक्त हुआ।" यहां जो रहस्य 'अहम्स्मि' में है, वह है अस्मिता का 'बोध'। आत्मा ही पहले था लेकिन उसे अपने अस्तित्व का बोध या ज्ञान नहीं था। उपनिषद्कार सृष्टि को आकस्मिक या अविचारित घटना मात्र नहीं मानते थे। इसलिए सृष्टि 'कर्त्तव्य' की स्थापना की गई। ज्ञाता के समस्त ज्ञान में निहित आधारभूत या मूलज्ञान 'मैं हूं' रूप है। यही समस्त सर्जना का प्रारम्भिक सोपान है। यह स्पष्ट करने के लिए ही आरमभ में जो भी तत्त्व को स्वीकार किया गया, उसमें सर्वप्रथम मूल 'बोध' का निरूपण किया गया। केवल ब्रह्म या आत्मा में कामना, ईक्षण आदि सम्भव नहीं — यह उपनिषदों की स्पष्ट मान्यता प्रतीत होती है। अतः उस आदि तत्त्व में चेतना का ज्ञातृत्व का निदर्शन आवश्यक था। इसलिए अहमस्मि, सोऽकामयत आदि शब्दों का प्रयोग किया है। अब इसे शांकर विलक्षणता ही कहा जा सकता है कि 'अहम्' शब्द देखकर ब्रह्मात्मैयस्य का निष्कर्ष निकाला गया। यहां हमें शंकर के ही कथन का स्मरण हो आता है — अध्यासो नाम अतस्मिंस्तत्बुद्धिः। 'अहम्ब्रह्मास्मि' पद का संदर्भ और प्रकरण अहम् 'आत्मा' और ब्रह्म के एकत्व प्रतिपादन का नहीं था। यह एकत्व अन्यत्र (अद्वैतवादी में) था।

इसी तरह 'तत्त्वमसि' की भी स्थिति है। छान्दोग्योपनिषद् के छठवें अध्याय में श्वेतकेतु को समझाया गया कि 'सन्मूला . . . सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठा' यह समस्त प्रजा (उत्पन्न) सत्मूलक है अर्थात् इन सब का मूल सत् है। फिर कहा गया 'मरते समय वाणी का मन में, मन का प्राण में, प्राण का तेज में और तेज का परम देवता में लय हो जाता है।' वह (परमदेवता) सूक्ष्म है। आशय यह है कि जो कुछ भी है, शून्य, मिथ्या, अविद्या (अज्ञान) या भ्रममूलक नहीं सत् मूलक है। आगे कहा गया — यह जो सूक्ष्म है; वह सत्य है, वह सार (आत्मा) है और यह सब कुछ सत्स्वरूप (एतदात्म्यं) है। इसी तरह श्वेतकेतु में जो सार या आत्मा है, वही सत्य है। यहां और आगे दृष्टांतों के द्वारा जो बात समझायी गयी है, वह है; समस्त प्रजा का सत्, उसमें निहित सार तत्त्व है। इस पूरे प्रकरण का निष्कर्ष यह है कि यह जो कुछ प्रजा (उत्पन्न) है, वह नाशवान् है। जब वह नष्ट होता है तब भी उसका सार नष्ट नहीं होता। वही सार, आत्मा सत् है। इसमें उस सार तत्त्व के एकत्व या अनेकत्व का कहीं उल्लेख नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ही कहा है "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरंजिघ्रति — यत्र वा अस्य सव्रमात्मैवाभूतत्केन कं जिघेत — तत्केन कं विजानीयात् येनेदंसर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" — इसे शंकर अद्वैत स्थापना के लिए व्याख्यायित करते हुए कहते हैं "जहां जिस अविद्याकल्पित देहेन्द्रिय संघात रूप उपाधि से उत्पन्न हुए विशेषात्म रूप में खिल्यभाव में द्वैत-सा — परमार्थतः अद्वैतब्रह्म में द्वैत-सा अर्थात् आत्मा से भिन्न पदार्थ-सा प्रतीत होता है — वहां अन्य अन्य को सूंघता है।" लेकिन "यत्र ब्रह्मविद्ययाविद्यानाशमुगमिता तत्र — आत्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावः" वहां कौन किसे सूंघे? शंकर के अनुसार अनात्म (विषय) तो अविद्या से कल्पित है; वास्तव में आत्मा से भिन्न को वस्तु है ही नहीं।[15]

यहां भी शंकर की 'अतस्मिंस्तत्बुद्धि' स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उक्त उपनिषद् वाक्य में न तो अद्वैत ब्रह्म (शांकर) की स्थापना है और न ही सत्ता के द्वैत का निषेध। वहां केवल शरीर रहित अवस्था में ज्ञाता ज्ञेय-द्वैत का निषेध किया गया। इससे पूर्व दृष्टांत द्वारा समझाया गया कि जल में घुले हुए नमक की तरह यह आत्मा भी देहेन्द्रिय मुक्त अवस्था में विशेष संज्ञा से रहित हो जाता है।[16] पुनः मैत्रेयी द्वारा यह कहे जाने पर कि शरीरपात के अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती — ऐसा कहकर मुझे मोह में डाल दिया "याज्ञवल्क्य स्पष्ट करते हैं कि ऐसा उस (आत्मा) का ज्ञान कराने के लिए कहा है।"[17] इसी क्रम में कहा गया 'यत्र द्वैतमिव भवति' — इसका सार यह है कि जहां इन्द्रियों और विषय का द्वैत होग वहां विषयी अन्य (विषय)को ग्रहण करता है। लेकिन जहां अर्थात् शरीरपात के अनन्तर यह आत्मा ही हो, वहां कौन किसको जानेगा? इस प्रकरण में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' के द्वारा जिसे जानने योग्य कहा गया, जिसके जान लेने पर अन्य सब कुछ जान लिया जाता है, उस तत्त्व के बारे में समझाया गया और देहेन्दिय संघात से भिन्न आत्म तत्त्व का ज्ञान कराया गया। देहेन्द्रिय के अभाव में आत्मा 'के लिए ज्ञेय' कुछ भी नहीं रहता। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा के अतिरिक्त अन्य का अभाव है या सत्ता ही नहीं है। यहां न तो विषय विषयी द्वैत का और न ही ब्रह्म-आत्म द्वैत का सामान्य निराकरण है।

इस प्रकार जिन उपनिषद् वाक्यों को अद्वैत (शांकर) परक कहा जा सकता है, वे अपने संदर्भानुसार रखे जाने पर उसका समर्थन नहीं करते। वास्तव में आत्मा और ब्रह्म शब्दों का उपनिषदों में जो प्रयोग हुआ है, वह सर्वत्र किसी तत्त्व विशेष के लिए नहीं हुआ है। अतः उनका अर्थ पूर्वापर कथनों के संदर्भ में ही ग्रहण करना चाहिए। शांकरवेदान्ती की सबसे बड़ी भूल यह है कि वह समस्त उपनिषदों को 'एक' ही दर्शन के रूप में स्वीकार करता है। तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से इनमें कोई एक मत है ऐसा मानना उचित नहीं है। एकत्ववाद, द्वैत तथा त्रैतवाद उपनिषदों में बहुशः उपलब्ध होते हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप 'ब्रह्म' से अतिरिक्त अन्य की सत्ता के निषेध या जगन्मिथयात्व का कहीं कोई स्पष्ट संकेत नहीं है। किसी कारण या प्रभाव से शंकर ने पहले विशेष प्रकार के अद्वैतवाद को स्वीकार

किया और फिर समस्त उपनिषदों को तदनुरूप ही व्याख्यायित करने का प्रयास किया। फलस्वरूप शंकर ने अपने मत के प्रतिकूल वाक्यों को मिथ्या, व्यावहारिक आदि कह कर परमार्थ और व्यवहार के न मिटने वाले द्वैतवाद को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार शांकर दर्शन न तो वेदों में है और न ही उपनिषदों में। अतः वैदिक होने के शेष विकल्प स्वतः समाप्त हो जाते हैं। हां, मोक्षशास्त्र की दृष्टि से अवश्य शांकर दर्शन कुछ सीमा तक वैदिक कहा जा सकता है और इस दृष्टि से तो बौद्ध दर्शन भी वैदिक ही कहा जा सकता है।

संदर्भ संकेत

1. भारतीय दर्शन — आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ. 302
2. न ब्रह्मणोऽन्यात्किञ्चित् भवितुमर्हति, शारीरक भाष्य 3/2/32
3. शारीरक भाष्य उपोद्घात्
4. भारतीय दर्शन — आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ. 4
5. शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, पृ. 6
6. उतामृतस्य ईशानः यत् अन्नेनातिरोहति, यजुर्वेद 31/2
7. सांख्य सित्रान्त, पृ. 339
8. वही
9. भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं . . . त्रिविध ब्रह्ममेतत्, श्वेताश्वतर 9/92
10. अद्वैतवाद — गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 392-94
    तथा सांख्य सिद्धान्त, पृ. 352
    वैदिक दर्श — जयदेव वेदालंकार, पृ. 173-74
11. डॉ. चन्द्रधर शर्मा, डॉ. आर.डी. रानाडे आदि ने ऐसा ही प्रयास किया है।
12. श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/9/10
13. मुण्डक 3/1/1.2
14. श्वेताश्वतर 1/1, 2
15. बृहदारण्यक 2/4/13
16. वही 2/4/92
17. वही 2/4/13

तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन अध्ययन शाला,
पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर — 492010

धर्म और (वर्तमान) राजनीति

— **हर्षनारायण**

धर्म और राजनीति में क्या सम्बन्ध है? धर्म-प्रवण राजनीति और राजनीति-प्रवण धर्म में से कौन-सा वरणीय है? क्या धर्म के बिना राजनीति और राजनीति के बिना धर्म सम्भव अथवा श्लाघ्य हैं? इस प्रकार के प्रश्न आज प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उठ खड़े हुए हैं। किन्तु इस देश का दुर्भाग्य है कि ऐसे प्रश्नों का निर्णय आदि से अन्त तक राजनेताओं के हाथ में होता है जो प्रायः धर्मविद्या के विषय में निरक्षर अथवा अधिक से अधिक अर्धाक्षर हैं।

इस विषय में व्यवस्थित विचार बौद्धिक ही कर सकते हैं। हम बस श्रीगणेश किये देते हैं। कृपया योग्यतर विद्वान् अपने गम्भीर विवेचन से राष्ट्र का मार्ग दर्शन करें।

धर्म दो प्रकार का होता है—

1. तात्त्विक धर्म (एसेन्शल रिलिज़न) और

2. संस्थाबद्ध धर्म (इंस्टीट्यूशनलाइज़्ड रिलीजन अथवा व्यवस्थाबद्ध रिलीजन, ऑर्गनाइज़्ड रिलीजन अथवा रिलिजस इस्टैब्लिश्मेंट)

संस्थाबद्ध धर्म भी दो प्रकार का होता है —

1. बंद धर्म (क्लोज़्ड रिलीजन) और

2. खुला धर्म (ओपेन रिलीजन)

अब इनके स्वरूप पर विचार कीजिए।

तात्त्विक धर्म की पहली विशेषता तो यह है कि वह मानवप्रकृत्यनुकूल होता है। **महाभारत** (कुम्भकोण), अनुशासन-पर्व (गीता प्रेस, मूल संस्करण, पृ. 237) के अनुसार वैदिक धर्म प्राकृत धर्म कहा जाता है—

श्रौतस्मार्तस् तु धर्माणां प्राकृतो धर्म उच्यते

तात्त्विक धर्म की दूसरी विशेषता है अवश्य-कर्त्तव्यता-बोध (अनकंडीशनल नेसेसिटी) अर्थात् सार्वभौम नीति-नियमों और जीवन और जगत् सम्बन्धी चरम प्रश्नों के प्रति समर्पण भाव। शरणागत की रक्षा कर्त्तव्य है, राष्ट्ररक्षा कर्त्तव्य है, मानवता की रक्षा कर्त्तव्य है, किन्तु स्व-जीवन रक्षा का नम्बर अन्त में आता है। अब यदि अन्यों की रक्षा में आत्म-बलि देनी पड़े तब भी धर्मात्मा पुरुष कोई चिन्ता नहीं करेगा। उसके लिए अन्यों की रक्षा अवश्यकर्त्तव्य है। **महाभारत** (उद्योग-पर्व 40.12–13) का वचन है —

न जातु कामान् न भयान् न लोभाद्
धर्म त्यजेज् जीवितस्यापि हेतोः।

धर्मो नित्यः, सुख-दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो, हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

.. अर्थ — "न तो काम के कारण, न भय के कारण, और न लोभ के कारण कभी धर्म का त्याग करना चाहिए; क्योंकि धर्म नित्य है, किन्तु सुख और दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीव नित्य है, किन्तु वर्तमान जीवन अनित्य है।"

जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कांट ने धार्मिक अवश्यकर्त्तव्यता-बोध को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है – "... धर्म ... अपने सभी कर्त्तव्यों का ईश्वराज्ञा के रूप में स्वीकरण है। सच्चे धर्म में अनुशासनों के अतिरिक्त कुछ नहीं होता; अर्थात् उन व्यावहारिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त, जिनकी निरपेक्ष आवश्यकता का हमें बोध हो सकता है, और जिन्हें तदनुसार ही हम ईश्वर-प्रेरित स्वीकार करते हैं (बाह्यानुभववत् नहीं बल्कि) शुद्ध विवेक द्वारा।"

उक्त प्रकारक ईश्वराज्ञा मनुष्य की अन्तरात्मा में स्थित होती है।

जैमिनि-कृत धर्म की परिभाषा है —

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। (मीमांसा – सूत्र 1.1.1)

इसका मर्म भी वही है जो कांट की परिभाषा का है, किन्तु इसमें एक बड़ा अंतर आ गया है, वह यह कि जैमिनि ने उक्त ईश्वराज्ञा को पुस्तकस्थ माना है, उनके अनुसार वह पुस्तक वेद है।

कुर्आन में धर्म के लिए 'दीन' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है जो कई प्रकार से व्युत्पन्न और व्याख्यात हुआ है। एक मत के अनुसार उसकी धातु 'दान लि' है, जिसका अर्थ है वशवर्ती अथवा प्रपन्न होना, आज्ञाकारी होना। इस प्रकार दीन भी उस कर्त्तव्य- राशि का नाम ठहरता है जिसका आदि स्रोत ईश्वराज्ञा है और जिसके लिए किसी हेतु की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु यहां भी ईश्वराज्ञा पुस्तकस्थ हो गयी है। उस पुस्तक का नाम कुर्आन है। इस प्रकार संस्थाबद्ध धर्म की नींव पड़ गयी।

अस्तु, उक्त प्रथम विशेषता से ही सम्बद्ध, बल्कि इसी में बद्धमूल, अवधारणा है पवित्र और अपवित्र, पुण्य और पाप की जो उपयोगी और अनुपयोगी अवधारणा से आमूल भिन्न है। पवित्र और पुण्य का संग्रह अनिवार्य और निरपेक्ष होता है, इसी प्रकार अपवित्र और पाप का त्याग भी अनिवार्य और निरपेक्ष होता है; जबकि उपयोगी का संग्रह किया तो क्या और न किया तो क्या, अनुपयोगी का त्याग किया तो क्या और न किया तो क्या? संसार की बातें हैं, थोड़ा लाभ पर्याप्त है, तदर्थ बड़ी हानि भी झेल लेंगे – यह मनोभाव धार्मिक मनोभाव से तत्त्वतः भिन्न है। उदाहरण लें। एक सम्प्रत्यय है जीवन के प्रति पवित्रता की भावना अथवा भक्ति-भाव। दूसरा सम्प्रत्यय है मनुष्य की निरपेक्ष पवित्रता। तीसरा है, व्यक्ति अपना साध्य स्वयं है। इन सम्प्रत्ययों की स्वीकृति के लिए बाध्य अथवा विवश करने वाला हेतु क्या है? अमुक व्यक्ति-विशेष के लिए इसका उपयोग क्या हो सकता है? राष्ट्र के लिए हो सकता है, किन्तु राष्ट्र के लिए अपना जीवन क्यों उत्सर्ग करें? तर्क से तो लोकतंत्र की बाध्यता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। स्वतंत्रता, समता, विश्वबन्धुत्व, सामाजिक न्याय, मानवीय एकता, मानव की महिमा (डिग्निटी) अन्ततः धर्म-बुद्धि

की उपज हैं। अलबत्ता, धर्म-तत्त्व से हमारा तात्पर्य है वह जो अन्तरात्मा की आवाज़ के नाम से प्रसिद्ध है; धर्मसंस्थान, संस्थाबद्ध धर्म, से नहीं।

कोई यहां यह शंका उठा सकता है कि अनेक धर्मनिरपेक्ष अथवा धर्म-विरोधी लोग अनेक धर्मवादियों की अपेक्षा अधिक आदर्शपरायण दिखायी देते हैं। मार्क्स, रसेल, नेहरू, नरेन्द्रदेव आदि के उदाहरण दिये जाते हैं। इसके सम्बन्ध में कथ्य यह है कि धर्म-बुद्धि मानव की जातीय सम्पत्ति है। वह उसके अन्तश्चेतन में अनुस्यूत है। और नैतिकता की निरपेक्षता तो सभी स्वीकार करते हैं। अन्तर इतना है कि धर्म में अनास्थावान् व्यक्ति नैतिकता की लौकिक, उपयोगितावादी व्याख्या करते हैं ज़बकि धर्मवादी उसका मूल उत्स अन्तरात्मा अथवा किसी अदृश्य सत्ता में देखते हैं। अस्तु, इतना तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि लौकिक आधार पर नैतिकता की अनिवार्यता स्थापित नहीं की जा सकती।

तात्त्विक धर्म, जैसा ऊपर इंगित किया जा चुका है, हृदयानुभूतिमूलक है, वह मात्र पुस्तकस्था विद्या नहीं। मनु ने एक स्थान पर (2.1) धर्म का लक्षण किया है —

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर् नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस् तं निबोधत॥

अर्थात् श्रेष्ठ, राग-द्वेष से मुक्त सत्पुरुषों द्वारा सेवित और स्व-हृदय में अनुभूत धर्म ही तात्त्विक धर्म है। लगभग इसी आशय का इक्बाल का शेर है —

तेरे ज़मीर पे जब तक न हो नुज़ूले किताब
गिरहकुशा है न राज़ी न साहिबे कश्शाफ़

अर्थात् दिव्यज्ञान जब तक मनुष्य के हृदय पटल पर प्रकट नहीं होता तब तक कुर्आन के इस भाष्य और उस भाष्य से कुछ नहीं हो सकता।

(**राज़ी** और **कश्शाफ़**-कर्त्ता ज़मख़्शरी कुर्आन के अप्रतिम भाष्यकार हैं।)

तात्त्विक धर्म व्यक्ति के आचार-व्यवहार को सीधे प्रभावित करता है। वह मनुष्य में मनुष्यता का आधान करता है। तात्त्विक धर्मबोध से युक्त व्यक्ति कैसा होगा इसका परिज्ञान भी हमें मनुस्मृति के एक श्लोक (6.92) से होता है —

धृतिः, क्षमा, दमो ऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर् विद्या, सत्यमक्रोधो — दशकं धर्म लक्षणम्॥

श्लोक स्पष्ट है। इसमें उल्लिखित दस तत्त्व मिलकर तात्त्विक धर्म का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

तात्त्विक धर्म की एक अन्य विशेषता है कि वह हिंसा को प्रश्रय नहीं देता। वह परोपकार को सबसे बड़ा पुण्य मानता है और परपीड़ा को सबसे बड़ा पाप। मनु (4.238) का वचन है —

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः
परलोक सहायार्थं सर्व भूतान्य पीडयन्॥

अर्थात्, मरणान्तर जीवन को प्रशस्त करने के लिए धर्म का संचयन प्राणियों को पीड़ा पहुँचाये बिना शनैःशनैः करना चाहिए, जैसे दीमक स्तूप बनाती है। इसी प्रकार —

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयम्
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

महाभारत (अनुशासन–पर्व 115.23) में अहिंसा को परम धर्म, परम तप, परम श्रय बतलाते हुए उसे धर्म का मूल कहा गया है —

अहिंसा परमो धर्मस्, तथा ऽहिंसा परं तपः,
अहिंसा परमं श्रेयः, यतो धर्मः प्रवर्तते ॥

वहीं अन्यत्र (**महाभारत**, शान्ति-पर्व 109.12) यहां तक कहा गया है कि प्राणियों को हिंसा से विरत करने के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है और कि जो अहिंसा से युक्त है वही धर्म है —

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

महाभारत में कहीं-कहीं सत्य की जो परिभाषा की गयी है वह इसी आदर्श की पोषक प्रतीत होती है, जैसे (**महाभारत**, शान्ति–पर्व 287.20) –

सत्यस्य वचनं श्रेयः, सत्य ज्ञानं तु दुष्करम् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥

अर्थात् सत्य बोलना अच्छा है, किन्तु सत्य का ज्ञान कठिन है। अतः जिसमें सभी प्राणियों का अत्यन्त हित हो वही सत्य है।

तात्त्विक धर्म वस्तुतः मान कर चलता है कि मानव किसी गर्त्त में फँसा हुआ है जिससे उबरने का प्रयास परम धर्म है। संसार अपूर्ण है, अल्प है; पूर्ण और भूमा की प्राप्ति मानव जीवन का लक्ष्य है। यह भाव तात्त्विक धर्म का प्राण है। मनुष्य स्वभावतः श्लाघ्य से श्लाघ्यतर की खोज में व्यस्त रहता है। वह किसी भी स्थिति में संतुष्ट नहीं होता। उसे अतिक्रान्त कर किसी ज्ञात अथवा अज्ञात उच्चतर भूमिका की खोज में व्यापृत रहता है। यह मनुष्य का स्वभाव ही है। हाली का शेर है —

है जुस्तजू कि ख़ूब से है ख़ूबतर कहां
अब देखिए ठहरती है जाकर नज़र कहां

यह प्रवृत्ति जब आगे जाकर सचेत रूप से पूर्ण की ओर प्रगति को अपना लक्ष्य बना लेती है, जिसके लिए वह वर्तमान जीवन को अपर्याप्त मानते हुए अनन्त जीवन की कल्पना कर लेती है, तब वह धर्म बन जाती है। यह प्रवृत्ति अनेक संप्रश्नों को जन्म देती है। जैसे सृष्टि का अर्थ और प्रयोजन क्या है? इसका आधार क्या है? इसकी चरम गति क्या है? धर्म वस्तुतः मानवजीवन को एक विराट् कैनवस प्रदान करता है जिस पर वह अपने अनन्त जीवन का चित्रांकन कर सके। इस बोध के फलस्वरूप वह वर्तमान का बन्दी बन कर नहीं रह सकता। उसके सम्मुख अनन्त जीवन के हित में वर्तमान जीवन की बलि देने के लिए भी उद्यत रहता है।

यदि मानव इस भावना से भावित हो तो वह अधिक सोद्देश्य और दायित्वपूर्ण जीवन जी सकता है, उच्चतर मूल्यों की सिद्धि के लिए निम्नतर मूल्यों और कामनाओं का त्याग

कर सकता है। यदि इस पर और अधिक विचार किया जाये तो **गीता** में प्रतिपादित अनासक्ति योग का मूल इस भावना में मिल जायेगा।

अब संस्थाबद्ध धर्म की ओर आते हैं। धर्म जब संस्थाबद्ध हो जाता है तब अपनी व्यवस्था विकसित कर लेता है। अपने अनुयायियों को स्वतंत्र रूप से संगठित कर लेता है। सामूहिक जीवन के प्रभावित करने लगता है। ऐसे धर्म में कतिपय ऐसी विशेषताएं जुड़ जाती हैं जो सदा श्लाघ्य नहीं होतीं।

तथापि, जैसा आरम्भ में बतलाया गया है, संस्थाबद्ध धर्म भी दो प्रकार का होता है — बन्द धर्म और खुला धर्म। पहले बन्द धर्म को लेते हैं।

महाभारतकार की अपनी कृति के विषय में गर्वोक्ति है —

यदिहास्ति तदन्यत्र, यन् नेहास्ति न तत् क्वचित्

अर्थ — जो यहां है वही अन्यत्र है, जो यहां नहीं है वह कहीं नहीं है। बन्द धर्मों की यह सर्वविदित विशेषता है। बन्द धर्मों की दूसरी विशेषता है अंधश्रद्धा, जो कूपमंडूकता को जन्म देती है। तीसरी विशेषता है पर-प्रत्यय-नेय बुद्धि, अर्थात् शब्द प्रमाण अथवा आप्तवचन को स्वानुभव से उच्चतर स्थान देना। चौथी विशेषता है अपने आचार्य, पीर, पैग़म्बर में अतिमानवत्व अथवा देवत्व का समारोप। आराध्य की परिकल्पना पाँचवीं विशेषता है। भाग्य अथवा कर्मफल का इतना आग्रह कि उससे पुरुषार्थ पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगे, यह छठी विशेषता हुई। परलोकोन्मुखता सातवीं विशेषता है। अपने देश, अपनी जाति, अपने सधर्मियों को अकारण सर्वश्रेष्ठ मान लेने का अहंकार आठवीं विशेषता है। फलतः, पर देश, जाति और धर्म के प्रति असहिष्णुता नवीं विशेषता हुई। यह सूची और बढ़ायी जा सकती है। किन्तु प्रस्तुत अवसर के लिए इतना पर्याप्त है।

इस प्रकार का धर्म एक सीमा तक तो लोक के लिए हानिकारक नहीं, किन्तु किसी सीमा में बँध कर रहना उसके लिए सदा सम्भव नहीं है। ऐसे धर्मों ने इतिहास में बहुत अनर्थ किये हैं, रक्त की नदियाँ बहाइ है, संस्कृतियों का सर्वनाश किया है, मानव को पशु बनाकर छोड़ा है। यदि इसका राजनीति से संयोग हो जाये तो 'करेला नीम चढ़ा' की कहावत चरितार्थ हो जायेगी।

अब खुले धर्म पर विचार कीजिए। खुला धर्म अंशतः संस्थाबद्ध होते हुए भी परिवर्तन का द्वार खुला रखता है। वैविध्य उसका स्वभाव है। उसका वैविध्य देशगत भी है और कालगत भी। वह भिन्न स्थान और संदर्भ में भिन्न हो जाता है। और इसी प्रकार एक ही स्थान और सन्दर्भ में भिन्न कालों में भिन्न हो जाता है। उसका वैविध्य उसमें कट्टर स्वभाव विकसित नहीं होने देता। वह देश-काल-पात्रानुसारी होने के कारण सर्वत्र समायोजित, समंजस, और समन्वित होने की क्षमता रखता है।

अब उदाहरण लें। तात्त्विक धर्म सार्वभौम होता है। उसका अधिष्ठान केवल व्यक्ति हो सकते हैं। वह प्रत्येक व्यक्ति में किसी न किसी अंश तक पहचाना जा सकता है। निस्सन्देह वह खुले धर्म के अनुयायियों में विशेष रूप से दिखायी देता है।

बंद संस्थाबद्ध धर्म का ज्वलन्त उदाहरण इस्लाम है। वह अपने आगे सभी वर्तमान धर्मों को अज्ञानमूलक और निरर्थक ही नहीं दुष्ट और पापात्मक मानकर चलता है और मूर्त्तिपूजकों को सबसे बड़ा पापी मानता है, यहां तक कि कुर्आन (सूरतुऽन्-निसा (4)48) के अनुसार अल्लाह बड़े से बड़ा पाप क्षमा कर सकता है किन्तु मूर्त्तिपूजा रूपी पाप को कदापि नहीं। वह धरती से मूर्त्तिपूजकों को जघन्य से जघन्य बल प्रयोग द्वारा उच्छिन्न कर डालने का व्रत लेकर चला है (अल्-बक़रः (2)193; अल्-अन्फ़ाल (8)39; अल्-तौबः (9)5 आदि) वह जिहादी धर्म है जो काफ़िरों से स्थायी युद्ध करने का उपदेश देता है। उसकी दृष्टि में अच्छे से अच्छे मूर्त्तिपूजक की अपेक्षा एक मुस्लिम गुलाम श्रेष्ठ है (सूरतुऽल्-बक़र = (2)221)।

वह संसार को दारुऽल्-हर्ब और दारुऽल्-इस्लाम संज्ञक भागों में बाँटता है और व्रत लेता है कि वह दारुऽल्-हर्ब को दारुऽल्-इस्लाम में बदलकर ही दम लेगा। वह जहां-जहां गया वहां-वहां उसने यदि समझाने-बुझाने से काम नहीं चला तो तलवार से जनता को धर्मांतरित किया, अन्यों के उपासना-गृहों को तहस-नहस कर डाला, उनके पुस्तकालय फूँक डाले, उनके शिक्षण-संस्थान और तीर्थस्थान रौंद डाले, उनकी भाषा मिटायी, उनके ख़ून की नदियां बहायीं, उन्हें गुलाम बनाया — एक शब्द में, उनके धर्म और संस्कृति को मटियामेट करने में कोई कसर उठा नहीं रखी।

कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इस्लाम का उपर्युक्त कृष्ण पक्ष (उसका शुक्ल पक्ष भी है) सारे मुसल्मानों को अंधकार में लपेटे हुए है। कश्मीर के सुल्तान ज़ैनुऽल्-आबिदीन, सम्राट् अकबर, युवराज दारा शिकोह जैसे मुसल्मान इस्लाम के उक्त कृष्णपक्ष के प्रभाव से मुक्त प्रतीत होते हैं। और आज भी ऐसे मुसल्मान मिल सकते हैं।

खुले धर्म का सर्वश्रेष्ठ नमूना हिन्दू धर्म प्रतीत होता है। मैं यहां 'हिन्दू धर्म' पद का प्रयोग व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ और बौद्ध, जैन, आजीवक, तांत्रिक, आदि सभी को उसका अंग मानता हूँ। यदि बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म से पृथक् मानना ही हो तो हम यह कहना चाहेंगे कि हिन्दू धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी खुले धर्म का सुन्दर निदर्शन है।

पहले बौद्ध धर्म को लेते हैं।

बौद्ध धर्म प्रचारक धर्म होते हुए भी धर्म प्रचारार्थ बल-प्रयोग की अनुमति नहीं देता। एक उदाहरण लीजिए। बुद्ध ने अपने शिष्य पूर्ण से पूछा, जब तुम प्रचारार्थ सुनारपरन्त नामक जनपद में विहार करोगे तो ध्यान रखना कि वहां के निवासी चण्ड हैं, पुरुष हैं। अतः वे तुम्हें गाली भी दे सकते हैं। तब तुम क्या करोगे? पूर्ण ने उत्तर दिया, यदि ऐसा होगा तो मैं सोचूंगा कि वे भद्र पुरुष हैं, क्योंकि वे मुझ पर हाथ नहीं उठाते। बुद्ध ने पूछा, यदि वे तुम पर हाथ उठा दें तब तुम क्या करोगे? पूर्ण ने उत्तर दिया, तब मैं सोचूंगा कि 'वे भले लोग हैं, क्योंकि उन्होंने मुझे ढेला नहीं मारा। और जब वे तुम्हें ढेला मारेंगे तब? तो मैं सोचूंगा कि ये भले लोग हैं क्योंकि ये मुझ पर दण्ड प्रहार नहीं कर रहे हैं। और यदि दण्ड प्रहार करें? तो मैं समझूंगा कि वे भद्र पुरुष हैं, क्योंकि वे मुझ

पर शस्त्र-प्रहार नहीं कर रहे हैं। और यदि शस्त्र-प्रहार करें? तो मैं समझूंगा कि ये भले पुरुष हैं, क्योंकि ये मुझे भूसे के ढेर में जीवित नहीं जला रहे हैं।

यह सुन कर बुद्ध ने पूर्ण को साधुवाद दिया। **मज्झिम-निकाय**, उपरिपण्णासक (3), पुण्णोवाद – सुत्त (45), पृष्ठ 358–360; संयुक्त-निकाय, सलायतन-वग्ग (4), सलायतन – संयुक्त (35), पुण्ण सुत्त (88), पृष्ठ 57; **दिव्यावदान**, पूर्णावदान (2), पृष्ठ 23 – 24। इसके विपरीत मुहम्मद साहेब अपने धर्मप्रचारकों को तलवार आदि से लैस करके भेजते थे। विस्तार में कौन ज़ाये, इस्लाम ख़ून की नदियां बहाकर विश्वधर्म बन सका, जब कि बौद्ध धर्माचार्यों को तदर्थ शान्ति का सन्देश पर्याप्त सिद्ध हुआ। वस्तुतः बुद्ध ने अपना धर्म किसी पर लादने की कभी चेष्टा नहीं की। उनका महामंत्र था (तत्त्वसंग्रह) —

तापाच् छेदाय च, निकषात् सुवर्णमिव पंडितैः परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं मद्वचो, न तु गौरवात्॥

अर्थ — हे भिक्षुगण! मेरे वचन को तपाकर, छीलकर, और कसौटी पर कस कर जाँचो और तब ग्रहण करो; न कि इसलिए कि मैं बड़ा आदमी हूँ।

निस्सन्देह बुद्ध के अनुयायियों ने बुद्ध-वचन के प्रति अंध श्रद्धा का भी यदा-कदा प्रचार किया है। जैसे तृतीय शताब्दी का बौद्ध दार्शनिक हरि वर्मा लिखता है, "बुद्ध वचन पर विचार नहीं करना चाहिए। क्यों? यदि भगवान् ने स्वयं विचार कर लिया है तो विचार के लिए रह ही क्या गया है; और यदि भगवान् ने विचार नहीं किया तो अन्य लोग भी विचार नहीं कर सकते। क्यों? सर्वज्ञ के अभिप्राय को समझना कठिन होता है।" (न कर्त्तव्यो बुद्धप्रवचन विचारः। कस्मात्? यदि भगवता स्वयमेव विचारितम्, किमस्ति विचाराय? यदि भगवता न विचारितम्, अन्येऽपि न विचारयितुं शक्नुयुः। कस्मात्? सर्वज्ञाभिप्रायो हि दुरवगाहः। हरिवर्मा, **सत्यसिद्धिशास्त्र**, पृष्ठ 38)

एक स्थान पर सारिपुत्र द्वारा कुछ इसी प्रकार की प्रशंसा सुन कर बुद्ध ने उनका साधुवाद किया था। सारिपुत्र ने बुद्ध से कहा था, "ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण न कभी था, न कभी होगा, और न अभी है जो ज्ञान-गरिमा में भगवान् (बुद्ध) से बढ़ा हुआ हो।" (आयस्मा सारिपुत्रो भगवन्तमेतदवोच — न चाहु, न च भविस्सति, न चेतरहि अञ्ञे समणो वा ब्राह्मणो वा भगवता विज्जति भिञ्ञभिञ्ञतरो यदिदं सम्बोधियं'ति।) बुद्ध ने इस वक्तव्य का स्वागत किया। सारिपुत्र ने आगे परमज्ञान की एक ऐसे दुर्ग से तुलना की जिसमें केवल एक द्वार हो। ताकि उसमें जो प्रवेश करे वह उसी द्वार से निकले। बुद्ध ने इस वचन का भी स्वागत किया। तब सारिपुत्र ने जोड़ा कि अतीत और आगामी बुद्ध (वर्तमान) बुद्ध से ज्ञान में बराबर होंगे किन्तु वर्तमान में कोई नहीं, क्योंकि दो सम्यक्सम्बुद्ध एक ही सृष्टि में जन्म नहीं ले सकते। बुद्ध ने भी इसका अनुमोदन किया। **दीघनिकाय**, महावग्ग (2), महापरिनिब्बान-सुत्त (3), पृ. 66; दीघनिकाय, पाथिक-वग्ग (3), सम्पसादनीय–सुत्त (5), पृ. 89। अस्तु, इस प्रकार के कादाचित्क श्रद्धातिरेक को अधिक गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए।

हिन्दू धर्म वस्तुतः कोई धार्मिक इकाई नहीं, वह धर्मों का एक महासंघ है। वह एक शाश्वत धर्मधारा है जिसमें बुलबुलों की भांति मत-मतान्तर बनते और बिगड़ते रहते हैं

और उसकी अजस्रता में कोई अन्तर नहीं आता। हिन्दू धर्म सभी उपासना-पद्धतियों, उपासना-गृहों और उपास्य देवों को मान्यता देता है। **गीता** का वचन है कि कोई किसी भी देवता का भक्त हो वह अन्ततः भगवद्भक्त ही है और कि भगवान् उसकी भक्ति स्वीकार करते हैं —

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता 9.23)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस् तथैव भजाम्यहम्,
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः॥

(गीता 4.11)

बल्कि **गीता** यहां तक कह जाती है — जो-जो जिस-जिस विग्रह की उपासना करना चाहता है उस-उस विग्रह में श्रद्धा भगवान् बढ़ाता ही जाता है —

यो यो यां यां तनुर् भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(गीता 7.21)

वस्तुतः हिन्दू धर्म सभी को अपने-अपने स्वभाव के अनुसार इष्ट देवता चुनने का अधिकार देता है। ये देवता बदलते रहते हैं। अनेक वैदिक देवताओं की उपासना आज बन्द हो चुकी है। हमारे मन्दिरों में आज भिन्न देवताओं की मूर्त्तियां विराजमान हैं। पूजा-पद्धति में और अधिक बदलाव हुआ है। श्रौत यज्ञों का अब प्रचार नहीं रहा, नित नये देवता जन्म लेते और विस्मृत होते रहते हैं।

वस्तुतः धर्म में परिवर्तन हमारे शास्त्रों में सर्वथा स्वीकृत है। मनु और **महाभारत** का स्पष्ट आदेश है कि युग बदल जाने से धर्म बदल जाता है। जो धर्म अन्य युगों में श्लाघ्य थे उन्हें कलियुग में वर्जित कर दिया गया। मनु तो यहां तक कह जाते हैं (4.176) कि जो धर्म लोकभावना का उद्वेजक हो उसे तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए —

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥

इस प्रकार का उदार, वैविध्यपूर्ण, परिवर्तनशील धर्म, चाहे वह किसी सीमा तक संस्थाबद्ध ही क्यों न हो, राजनीति से सम्बद्ध हो कर भी घातक होने की सम्भावना नहीं रखता।

अब दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। भारत की ज्वलन्ततम समस्या है इसमें एकात्मता की संवृद्धि तथा राष्ट्रीय संस्कृति का जीर्णोद्धार। और इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि भारत और भारतीय संस्कृति की जीवन्तता का सर्वाधार हिन्दू धर्म-संस्कृति के अतिरिक्त कोई अन्य धर्म अथवा संस्कृति नहीं।

अब इतिहास की ओर आइए। बौद्ध धर्म सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से प्रायः पिछड़े हुए देशों में पहुँचा, और वहां अहिंसाधारित संस्कृति का संवाहक सिद्ध हुआ। हिन्दू

धर्म भी वर्तमान इण्डोनेशिया, मलाया प्रभृति देशों में पहुँचा और वह वहां सभ्यता और संस्कृति का उन्नायक सिद्ध हुआ, धर्मोन्माद से रहित। इस्लाम-पूर्व मध्य एशियाई अर्ध-संस्कृत जातियों ने भारत पर अभियान किये और वे अन्ततः भारतीय संस्कृति और समाज का अभिन्न अंग बन गयीं। कनिष्क जैसे इस्लाम-पूर्व तुर्क ने भारत पर आक्रमण किया किन्तु भारतीय धर्म-संस्कृति से इतना सुसंस्कृत हुआ कि वह भारतीय और ईरानी सभी धर्मों के प्रति सर्वथा उदार हो गया। उसने शैव धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का व्यापक प्रचार किया।

किन्तु इस्लाम में दीक्षित तुर्क कितने हिंस्र और हिन्दू-रक्तपिपासु बन गये यह मध्यकालीन भारतीय इतिहास का प्रत्येक अध्येता जानता है। तुर्क और हिन्दू की तुलना करते हुए अमीर ख़ुसरौ लिखता है —

जहां रा क़दीम आमद ई रस्मो पेशः
कि हिन्दू बुअद सैदे तुर्कां हमेशः (पृ. 89)

ज़ि रस्मे कि रफ्तऽस्त चर्खे रवां रा
बुजूद अज़ पए तुर्क शुद हिन्दुआँ रा
कि तुर्कऽस्त ग़ालिब बर एशाँ चु कोशद
कि हम गीरदो हम ख़रद हम फ़रोशद (पृ. 131)

— अमीर ख़ुस्रौ, **मस्नवी-ए नुह सिपिह्र**, वहीद मिर्ज़ा द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1948, सिपिह्र 2, पृ. 89, 131

अर्थ — "संसार की अनादि काल से चली आ रही रीति के अनुसार हिन्दू सदा तुर्कों का शिकार रहा है। भ्रमणशील व्योम की यही रीति है कि हिन्दुओं का अस्तित्व तुर्कों के लिए है। तुर्क से ये सदा विजित होते रहते हैं, जो जब चाहता है इन्हें पकड़ता है, ख़रीदता है, और बेचता है।" वह यहां तक लिख जाता है कि "यदि हिन्दुओं से जिज्या लेकर उनकी जान न बख्शी गयी होती तो हिन्दुओं का नाम-निशान तक मिट जाता।"

नेहरू ने **डिस्कवरी ऑव इण्डिया** में स्थापना की है कि, यदि तुर्कों के स्थान पर अरबों ने भारत का शासन-सूत्र सम्भाला होता तो भारत पर वे अत्याचार नहीं होते जो यहां तुर्कों ने किये। लगता है कि उन्हें इसका बोध ही नहीं था कि इस्लाम अच्छी-भली जाति को भी कितना हिंस्र बना सकता है। हमने यहां मुस्लिम तुर्कों और इस्लामि-पूर्व तुर्कों की जो तुलना की है उससे नेहरू के अनुयायियों को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि दोष तुर्क अथवा अरब का नहीं है, दोष उनके धर्म का है। वस्तुतः अरबों ने ही तो ईरान से लेकर स्पेन तक के धर्मों, संस्कृतियों, और भाषाओं को धूलि में मिला दिया था।

अशोक ने धर्मतंत्रीय राज्य नहीं चलाया, किन्तु उसने राजनीति से धर्म को दूर भी नहीं रखा। वस्तुतः उसकी राज्य-व्यवस्था धर्मानुप्राणित राज्य-व्यवस्था थी। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में अप्रतिम योगदान किया। उसकी सारी राजनीति धर्ममय थी। किन्तु क्या वह इस कारण एक घटिया राजा कहा जा सकता है? उसकी महत्ता के सम्बन्ध में एच.जी. वेल्स की प्रसिद्ध उक्ति के बाद शायद ही किसी को इस कथन में विप्रतिपत्ति हो कि वह

विश्व का सर्वोत्तम सम्राट् रहा है। इसी प्रकार सम्राट् हर्षवर्धन भारत के सभी धर्मों में श्रद्धा और धर्मानुप्राणित राज्य-व्यवस्था के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

दूसरी ओर, इस्लाम-धर्म के प्रचार-प्रसार में रुचि रखने वाले प्रायः सभी मुस्लिम सम्राट् और शासक अन्य धर्मों-संस्कृतियों के लिए घातक सिद्ध हुए हैं। यहां नाम-संकीर्त्तन की आवश्यकता नहीं। इतना कहना पर्याप्त होगा कि उत्तर भारत में सभी प्राचीन देवालय उनकी ध्वंस-लीला के शिकार हो गये और दक्षिण के भी हज़ारों मन्दिरों की वही गति हुई। मुस्लिम शासकों ने जितनी इमारतें बनवायी हैं वे सभी उनके द्वारा ध्वस्त मन्दिरों के मलबे से ढँक जायेंगी, उन्होंने हिन्दुओं के रक्त की जो नदियां बहायी हैं उनके प्रवाह में उनके द्वारा बनवायी गयी सारी इमारतें बह जायेंगी। उन्होंने जितने स्त्री और बच्चे गुलाम बनाये हैं उनसे एक पूरा देश बसाया जा सकता है। मुसल्मान की संख्या जहां-जहां बढ़ी वे वहां-वहां राष्ट्र के लिए सिरदर्द बने। उन्होंने पाकिस्तान बनवा लिया। पूरे देश का विखण्डन किया। बचे-खुचे भारत में कश्मीर को हमसे व्यवहारतः पृथक् कर दिया। वे हमारे राष्ट्र के प्रेमी नहीं शोषक सिद्ध हो रहे हैं, किन्तु हिन्दुओं के लिए दूसरा ठिकाना नहीं। हिन्दू भारत को पुण्यभूमि मानकर उसकी पूजा करता है, अतः भारत का भला तभी हो सकता है जब हिन्दू धर्म-संस्कृति का भला हो।

अतः प्रश्न यह नहीं है कि राजनीति को धर्म से हाथ मिलाना चाहिए अथवा नहीं। इसका उत्तर कम से कम भारत के सम्बन्ध में निश्चय ही भ्रामक होगा। वस्तुतः यह एक प्रच्छन्न विभज्यवचनीय प्रश्न है जिसका उत्तर हां अथवा नहीं में नहीं दिया जा सकता। प्रश्न यूँ उठना चाहिए, भारत में दो मुख्य धर्म प्रचलित हैं — हिन्दुत्व और इस्लाम। हिन्दुत्व राष्ट्र की अखण्डता और सुरक्षा तथा उसकी धर्म-संस्कृति के रक्षण और संवर्धन का प्रतिभू है, जबकि इस्लाम राष्ट्र की अखण्डता और उसकी धर्म-संस्कृति के लिए सदा से ख़तरा बना रहा है। क्या राज्य को दोनों के प्रति समान रूप से तटस्थ रहना चाहिए अथवा राष्ट्र-संग्राहक धर्म को प्रश्रय और पोषण प्रदान करना चाहिए?

हमारा उत्तर स्पष्ट है। शाश्वत धर्म, लोक-संग्राहक धर्म, राष्ट्र-रक्षक धर्म को प्रश्रय और पोषण प्रदान करना राज्य का कर्त्तव्य है। यदि हिन्दू धर्म-संस्कृति से राष्ट्र का संवर्धन सम्भव हो तो राज्य उसका पोषण क्यों न करे? राष्ट्र-धारणा से जो भी संयुक्त होगा, चाहे वह व्यक्ति हो, समुदाय हो, अथवा धर्म हो, वह राज्य-सत्ता द्वारा पुरस्कृत होना चाहिए और जो भी राष्ट्र-धारणा के प्रतिकूल हो वह राज्य-सत्ता द्वारा तिरस्कृत होना चाहिए। जो भी व्यक्ति, समुदाय, अथवा धर्म राष्ट्र की अस्मिता का प्रतिनिधि होगा वह राज्य-सत्ता द्वारा प्रोत्साहित होना चाहिए और जो उसके प्रतिकूल होगा वह हतोत्साहित होना चाहिए। जिस धर्म में दीक्षित होने पर देश-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति और राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा में प्रीति बढ़ती है उसे प्रोत्साहित करना राज्य का धर्म है और जिस धर्म में दीक्षित होने पर उनमें बाधा पड़ती है उसे हतोत्साहित करना राज्य का कर्त्तव्य है। जिस शिक्षण-प्रशिक्षण से

राष्ट्रीय एकात्मता और शान्ति में बाधा पड़ती है उस पर प्रतिबंध राज्य का कर्त्तव्य है। राज्य में समान क़ानून-व्यवस्था की स्थापना राज्य का कर्त्तव्य है। वह वैयक्तिक क़ानून के रूप में किसी क़ानून की छूट तभी दे सकता है जब उससे किसी व्यक्ति अथवा समुदाय के कुप्रभावित होने की आशंका न हो। राज्य को उसी भाषा को स्वीकृति, प्रश्रय, और प्रोत्साहन देना चाहिए जिससे राष्ट्र भेद की आशंका न हो। और जिस भाषा से राष्ट्र की एकात्मता सम्पन्न और सुरक्षित होती हो उसका पोषण राज्य का परम कर्त्तव्य है। जिन पशुओं के कटने से राष्ट्र में असंतोष व्याप्त होने की आशंका हो उनका वध वर्जित करना राज्य का कर्त्तव्य है।

हमने अभी जिन बातों का उल्लेख किया है उनमें से कई को कई लोग धर्म का अंग नहीं मानेंगे। वस्तुतः यह सब प्रस्तुत सन्दर्भ में धर्म की अवधारणा पर आधारित है। हिन्दू धर्म धर्मों का संघात और सनातन भारतीय संस्कृति का नामान्तर है। जहां तक इस्लाम का प्रश्न है, वह धर्म भी है, संस्कृति भी है, राजनीति भी है, भारत के सन्दर्भ में भाषा भी है, गो-वध का अधिकार भी है, स्वतंत्र शिक्षा-व्यवस्था और कानून-व्यवस्था भी है। अतः इस्लाम के सन्दर्भ में धर्म से तटस्थता बरतने का अर्थ होगा उसके इन सभी पक्षों, आयामों के प्रति तटस्थता, जो एक घातक क़दम होगा। इस तटस्थता का अर्थ होगा इस्लाम को भारत में अपनी दुनिया अलग बसाने की स्वतन्त्रता की स्वीकृति। फिर राष्ट्रीय एकात्मता को कौन पूछेगा?

इसी प्रकार राजनीति के हिन्दू धर्म से तटस्थ होने का फलितार्थ होगा सनातन भारतीय संस्कृति की उपेक्षा और हिन्दुत्व के राष्ट्र-संग्राहक आयामों का तिरस्कार। ऐसी राजनीति भारत के किस काम की?

इस प्रकरण में एक बात और ज्ञातव्य है। हिन्दू धर्म-संस्कृति संसार की सबसे अधिक उत्पीड़ित संस्कृति है। लगभग 1200 वर्षों से इसे मिट्टी में मिलाने का प्रयत्न जारी है। मुस्लिम शासनकाल में इसे 'दुःख बदलने की भी सुविधा नहीं मिली।' पाकिस्तान और बंगला देश में तो इसे भेड़ियों के हवाले ही कर दिया गया। वह बचे-खुचे भारत में भी सिसक रही है। किन्तु इसकी सिसकी शासन को सुनायी ही नहीं दे रही है। काश कि हमारे नेताओं को इसका सम्यक् बोध होता! उस दशा में वे 'धर्मनिरपेक्षता' का, जो व्यवहारतः हिन्दूधर्म-निरपेक्षता ही है, बेहूदा नारा नहीं लगाते।

यह भी समझना चाहिए कि यदि किसी धर्म पर अत्याचार हुआ हो, और वह धर्म न्याय की भिक्षा मांगे, तो क्या राज्य का यह कर्त्तव्य नहीं कि उसके प्रति सहानुभूति दिखलाते हुए उसे न्याय दिलाने का प्रयत्न करे? या उसे उसके प्रति तटस्थ हो जाना चाहिए? उदाहरण लीजिए, औरंगज़ेब ने कृष्ण मंदिर तोड़ कर उसी जगह मस्जिद बना दी। हिन्दू असहाय था। देश-विखण्डन के बाद बचे-खुचे भारत में उसे स्वतंत्रता का आभास हुआ। यदि वह अपना मन्दिर वापस मांगता है तो क्या उसे न्याय नहीं मिलना चाहिए? क्या इसे धार्मिक मांग कहकर उसे बलात् चुप कर देना चाहिए? राज्य का

कर्त्तव्य है कि अन्याय जिसके भी प्रति हो उसका प्रतिकार करे। राज्य को घोषित कर देना चाहिए कि उस धर्म को धर्म नहीं माना जा सकता जो दूसरे धर्म पर अत्याचार करता है। **महाभारत** का पूर्वोदाहृत, अधोलिखित श्लोक इस सन्दर्भ में राज्य का महामंत्र होना चाहिए।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्म सत्यविक्रम!॥

अर्थ — जो धर्म अन्य धर्म के प्रति बाधक हो वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जो धर्म अविरोधी स्वभाव का है, वही धर्म है।

पाकिस्तान का उदाहरण लें। सभी जानते हैं कि वहां के हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार हो रहे हैं। उनके देवालय आये दिन भ्रष्ट और ध्वस्त किये जाते हैं। उन्हें बलात् धर्मान्तरण की सासत झेलनी पड़ती है। वे खुल कर पूजा-अर्चा नहीं कर सकते। अब यदि वहां कोई राजनीतिक दल इस मुद्दे पर चुनाव लड़ना चाहे कि सत्ता में आने पर वह हिन्दुओं के भ्रष्ट और भग्न मन्दिरों का जीर्णोद्धार करेगा, बलात् धर्मान्तरित हिन्दुओं को प्रत्यावर्तन की छूट देगा, हिन्दुओं को सार्वजनिक रूप से पूजा-अर्चा की सुविधा देगा, उनके लिए आवश्यकतानुसार मूर्त्तियां, धर्मग्रन्थ, और अन्य आवश्यक वस्तुएं बाहर से मंगायेगा, तो क्या वह राजनीतिक दल धर्म का राजनीतिक दुरुपयोग कर रहा होगा? क्या आप चाहेंगे कि हिन्दुओं पर उक्त घिनौने अत्याचारों के प्रति सभी राजनीतिक दल, यहां तक कि शासन तंत्र भी, सर्वथा तटस्थ और उदासीन बना रहे? क्या धर्म इतनी घिनौनी वस्तु है कि उस पर जितने भी अत्याचार हों सब जायज़ हैं?

वस्तुतः स्वतंत्र समाज में प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक दल को अधिकार होना चाहिए कि वह हिंसा के अतिरिक्त कोई भी मांग जनता और शासन के सामने रख सके और जनता से उसके पक्ष में मतदान की भी अपेक्षा कर से। और जनता को अधिकार है कि वह उक्त मांग की गुणवत्ता पर विचार करे और स्वतंत्र निर्णय ले। शासन का कोई अधिकार नहीं बनता कि वह पहले से तय कर दे कि जनता के समक्ष अमुक प्रकार के प्रश्न जाने ही नहीं पायें। सर्वतंत्रस्वतंत्र जनता ही है, शासन नहीं।

वस्तुतः भारत में राष्ट्र-भंग के बाद जितनी भी सरकारें बनीं वे स्वयं धर्म का राजनीतिक दुरुपयोग व्यापक स्तर पर करती रहीं। हमारा संविधान स्वयं धर्मों के बीच आपत्तिजनक भेदभाव बरतता है। अनुच्छेद 29 और 30 में अल्पसंख्यकों को स्वधर्मानुकूल शिक्षण-प्रशिक्षण-व्यवस्था, और वह भी सरकारी अनुदान से, संचालित करने की खुली छूट है, जबकि हिन्दू इस सुविधा से शत-प्रतिशत वंचित रखे गये हैं। कांग्रेस सरकारें देश के विखण्डन के लिए सीधे उत्तरदायी मुस्लिम लीग के साथ अटूट सम्बन्ध-सूत्र में गुँथी रही है, किन्तु प्रत्येक हिन्दू संगठन से अछूत का-सा व्यवहार करती रही है। श्री कैलाश भूषण जिन्दल, अवकाश प्राप्त आयकर आयुक्त ने एक लेख में दिखलाया है कि "हिन्दू संयुक्त परिवार पर अन्य करदाताओं की अपेक्षा आयकर अधिक लगाया जाता है। जबकि अन्य करदाताओं की रु. 28,000 की आय कर-मुक्त है, हिन्दू संयुक्त परिवार की 18,001 की आय पर ही कर लगने लगता है। 18,000 से 1,00,000 तक की आय पर 30 प्रतिशत

कर लगता है। अन्य करदाताओं पर 28,000 से 50,000 तक की आय पर कुल 20 प्रतिशत की दर से कर लगाया जाता है। जहाँ 1 लाख की आय पर हिन्दू संयुक्त परिवार 24,600 कर देता है, अन्य करदाता केवल 19,400 देते हैं। इसके विपरीत मुसल्मानों के उद्योग और व्यापारिक प्रतिष्ठान आयकर से मुक्त हैं। यह सब वक्फ़ घोषित कर दिये गये हैं। आयकर अधिनियम की धारा 160(1)(N) और 164(1) के अन्तर्गत ये सब वक्फ़ कर-मुक्त हैं। केवल उनके हितकारियों पर उनके व्यक्तिगत लाभांश पर आयकर लगता है।" जब शाहजहां ने मेला-कर हिन्दुओं पर लगाया तब काशी की विद्वन्मण्डली उद्वेलित हो उठी और स्वामी कवीन्द्राचार्य सरस्वती के नेतृत्व में सम्राट् से गुहार कर हिन्दुओं को मेला-कर से मुक्त करा लिया। औरंगज़ेब ने मेला-कर फिर लगा दिया। हमारी सरकार ने औरंगज़ेब के पदचिह्नों पर चलते हुए यात्री-कर के रूप में उसे पुनर्जीवित कर दिया जो माघ-मेले और कुंभ में त्रिवेणी में स्नान कर प्रयाग जाने वाले तथा द्वारका जी, अम्बा जी, और डाकोर जी जाने वाले हिन्दुओं को अदा करना पड़ता है। कहते हैं कि इस प्रकार वसूल किया हुआ कर हज-यात्रियों के ऊपर ख़र्च किया जाता है। कोई भी हिन्दू संस्था गृह-मंत्रालय की अनुमति के बिना विदेश से कोई धनराशि भारत नहीं ला सकती, जबकि मुसल्मानों को सात सौ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष भारत लाने की सुविधा-सी है। सरकार प्रतियोगिता-परीक्षाओं के लिए कोचिंग का प्रबन्ध सरकार की ओर से केवल अल्पसंख्यकों के लिए किया जाता है। हिन्दू अभ्यर्थी उससे सर्वथा वंचित रहते हैं। अल्पसंख्यकों के लिए पृथक् वित्तीय निगम, अल्पसंख्यक आयोग आदि बने हुए हैं। उनकी धर्म-शिक्षा के लिए लगभग 30 हजार मदरसे सरकारी अनुदान पर पल रहे हैं, किन्तु इस दिशा में हिन्दुओं के लिए कुछ भी नहीं हो रहा है।

कहां तक गिनाएं? भारत को मुस्लिम रंग-रूप देने की प्रक्रिया ज़ोरों से चल रही है और दूसरी ओर हिन्दू ज़ुबान खोलते ही साम्प्रदायिक घोषित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म का राजनीतिक दुरुपयोग वे ही लोग कर रहे हैं और भयानक रीति से कर रहे हैं जो राजनीति को धर्म से पृथक् रखने के लिए हाय-तौबा मचा रहे हैं।

राम-जन्म-भूमि–पुनरुद्धारान्दोलन वस्तुतः धर्म के राजनीतिक दुरुपयोग का आंदोलन नहीं है वह विशुद्ध धार्मिक न्याय के लिए गुहार-स्वरूप है। आपराधिक न्याय, सिविल न्याय, सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय आदि के समान धार्मिक न्याय भी एक ठोस सत्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि किसी धार्मिक समुदाय पर धर्म के नाम पर अत्याचार हुआ है और वह समुदाय शासन से न्याय मांगते हुए अत्याचार के निराकरण की अपेक्षा करता है तो वह राजनीति में धर्म का दुरुपयोग नहीं कर रहा होता है, बल्कि केवल न्याय चाहता है।

प्रतिक्रिया

भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद कुछ आक्षेपों का समाधान

मेरे उपरिनिर्दिष्ट शीर्षक के लेख पर र. शं. विश्वविद्यालय धर्मदर्शन विभाग के अध्यापक डॉ. कामेश्वर राव ने उन्मीलन जनवरी 92 के सद्यः प्रकाशित अंक में कुछ आक्षेप प्रस्तुत किये हैं। इन आक्षेपों के संक्षिप्त उत्तर यहां दिये जा रहे हैं। पहला आक्षेप चेतनता और सोद्देश्यता के संबंध में (जिसकी मैंने अपने लेख में चर्चा की है) है। राव का कहना है कि प्रकृति में प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति सप्रयोजन भी है, किन्तु इस पर से प्राकृत प्रवृत्ति को सादेश्य नहीं मानना चाहिये। इसका मतलब यह है कि सोद्देश्य प्रवृत्ति के लिये – जो चेतनता का निदर्शक हो सकती है – और कुछ अपेक्षित है। इस पर यह कहना कि यह और कुछ चेतनता है – जो पुरुष का धर्म या स्वभाव है – केवल पुनरुक्ति होगी। सामान्यतया चेतनता का निकष सप्रयोजन प्रवृत्ति ही माना जाता है। राव को इस पर यह कहना होगा कि सहज संस्कारमूलक जो प्रवृत्ति होती है वह प्रायः अचेतन होती है और प्राकृत प्रवृत्ति भी ऐसी ही होनी चाहिये। उदाहरण के रूप में पक्षियों के घोंसला बनाने की प्रवृत्ति को साहजिक और अचेतन कह सकते हैं। मानव की भी ऐसी अज्ञात प्रवृत्तियां (और निवृत्तियां भी) हुआ करती हैं। किन्तु यह उत्तर विशेष संतोषदायक नहीं है। सहज संस्कारमूलक प्रवृत्तियां पूर्णतया अचेतन नहीं होतीं। केवल चेतन प्राणियों में ही ये प्रवृत्तियां घटित होती हैं। इनको अचेतन मानने का मतलब इतना ही है कि ये आत्मचेतन नहीं होतीं। संस्कार स्वयं परिस्थिति विशेष में कृति के रूप में प्रकट होते हैं और ऐसा होने पर ही उनके अस्तित्व का आभास कृतिमान् प्राणी को हुआ करता है। पूर्णतया जड़ पदार्थों में न कोई संस्कार होते हैं न उनसे प्रेरित कोई प्रवृत्ति। अतः प्रकृति की प्रवृत्ति को उक्त प्रवृत्ति जैसी ही मान लेने पर भी प्रकृति को अचेतन नहीं माना जा सकता। यही नहीं, संपूर्ण चतुर्विंशति तत्त्वात्मक सृष्टि को ही प्रकृति से उद्‌भूत मान लेने के बाद भी प्रकृति अचेतन ही है, ऐसा कहना वदतोव्याघात रूप होता है। हाँ, यह कह सकते हैं कि प्रकृति तथा प्राकृत सृष्टि में जो चेतन-सा समाविष्ट है वह आत्मसंवेदी नहीं है या जड़ प्रकृति में भी इस प्रकार की अनात्म-संवेदी चेतना विद्यमान हो सकती है। यह बात मैंने लेख में विस्तार के साथ कही है और इस पर से यह निष्कर्ष निकाला है कि सांख्यीय जड़वाद अर्वाचीन विज्ञान के जड़वाद से भी अधिक व्यापक तथा अधिक सुलझा हुआ है।

राव का दूसरा आक्षेप, जो पहले आक्षेप का ही रूपान्तर है, यह है कि "मुक्ति के लिए पुरुष का प्रयास कोई मतलब नहीं रखता" (यह मेरा कथन है) यह कहना भी अनुचित है। . . . "समस्त भोग-साधन बुद्धिपरक होने पर भी भोक्तापन बुद्धि में नहीं पुरुष में है।

बुद्धिलब्ध समस्त का जब तक चेतना में अवसान नहीं होता भोग नहीं कहलाता। बुद्धि साधन है और पुरुष साधक।" राव के इन वाक्यों से यह अर्थ निकलता है कि पुरुष अपने कैवल्य के लिये प्रयत्नशील होता है। केवल प्रकृति की निवृत्ति से पुरुष को कैवल्यावस्था प्राप्त नहीं होती। क्या यह निष्कर्ष सांख्य सिद्धान्त के अनुरूप है? यदि पुरुष अविकृत चैतन्य-रूप हो तो उसके अपने प्रयास की बात कैसे की जा सकती है? सांख्य कारिका में पुरुष को भोक्ता कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि वास्तव में कोई (पुरुष) न बद्ध है न मुक्त (तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्)। इन दो परस्पर विरुद्ध वचनों में संगति बैठानी हो तो सांख्य-सम्मत भोक्तृत्व के स्वरूप को ठीक तरह समझना होगा। भोगात्मक अनुभूति पर जो पुरुष-चैतन्य की छाया पड़ती है (यह आलंकारिक कथन है) वही इस चैतन्य की भोक्तृता है। इस भोक्तृता से पुरुष का निर्विशेष चैतन्य बिल्कुल प्रभावित नहीं होता। वास्तव में सांख्यमतानुसार पुरुष की किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति की बात करना ही असंगत है। आचार्य शंकर ने इसी बात को लेकर सांख्य-सिद्धान्त को सदोष ठहराया है। **ब्रह्मसूत्र भाष्य** के तर्कवाद के प्रारम्भ में ही शंकर कहते हैं कि प्रवृत्ति और कर्तृत्व को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यदि कर्तृत्व पुरुष में ही है तो उसी में प्रवृत्ति भी होनी चाहिये जो सांख्य नहीं मानता। सांख्य मतानुसार पुरुष में न भोगार्थ न कैवल्यार्थ प्रवृत्ति होती है। पुरुष शुद्ध चैतन्यरूप है, उसमें किसी प्रकार की प्रवृत्ति होना असंभव है। यह बात **सांख्य कारिका** की माठर वृत्ति में (37वीं कारिका की व्याख्या में) अच्छी तरह स्पष्ट की गयी है। संबद्ध परिच्छेद इस प्रकार है –

"न हि भगवतः कपिलस्य मते किमपि कर्त्तव्य अनुष्ठेयतया, किन्तु सांख्यानां पंचविंशति तत्त्वज्ञानं एव साधर्म्येण वैधर्म्येण च निश्रेयस हेतुः। उक्तं च– हस, पिब, मोद, नित्यं विषयान् उपभुंज, कुरु च मा शंकाम्। यदि विदितं ते कपिलमतं तत् प्राप्स्यसे मोक्ष-सौख्यं च।"

इस परसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि बिना पुरुष के किसी प्रकार के प्रयास से केवल प्रकृति की स्वाभाविक परिणाम-प्रक्रिया के फलस्वरूप ही पुरुष के बंध और मोक्ष दोनों यथाक्रम घटित होते हैं। राव ने अपने वैयक्तिक मत के समर्थनार्थ 'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च' इस सांख्यकारिकान्तर्गत वाक्यखंड का ग़लत अर्थ लगाया है। व्याख्याकारों को संमत तथा वाक्यान्तर्गत शब्दों के अर्थों को जोड़ने से जो इस वाक्य खंड का अर्थ निकलता है वह यह है कि "पुरुष के ही कैवल्य के लिये (नकि बुद्धि या प्रकृति के कैवल्य के लिये) प्रकृति में प्रवृत्ति हुआ करती है।" किसी भी कारिका में या उसकी व्याख्याओं में यह बात दृग्गोचर नहीं होती कि पुरुष अपने भोग या अपवर्ग के हेतु किसी भी प्रकार प्रवृत्त होता है।

राव का अन्तिम आक्षेप मेरे 'आध्यात्मिक जड़वाद' इस नामकरण पर है। यदि 'जड़वाद' वह दर्शन है जो मूल तत्त्व को जड़ मानकर चेतना को उसी का एक रूप माने तो सांख्य को जड़वादी कहने में क्यों आपत्ति हो? क्या प्रकृति जड़ नहीं? सांख्यकारिका में ही प्रकृति की जड़ता या अचेतनता का स्पष्ट निर्देश है जैसे —

'त्रिगुणं अविवेकि विषयः सामान्यं अचेतनं प्रसवधर्मी।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतः तथा च पुमान्।'

इस कारिका में व्यक्त सृष्टि तथा अव्यक्त प्रकृति ये दोनों अचेतन कहे गये हैं। इस अचेतन प्रकृति में से ही चेतन बुद्धि का उदय विकासक्रम में सर्वप्रथम होता है, ऐसा एक अन्य कारिका में बताया गया है। लेकिन चेतना को सत्तामीमांसीय दृष्टि से सांख्य मूलतत्व नहीं मानता क्योंकि विश्व की सभी प्रक्रिया प्राकृत परिणाम के फलस्वरूप ही घटित होती है। फिर भी पुरुष रूप चेतनतत्त्व को सांख्य ने जो स्वीकर किया है उसका कारण या वास्तविक मंतव्य क्या है यह मैंने अपने लेख में स्पष्ट किया है। राव को यह बात स्वीकार्य नहीं कि सांख्य दर्शन का परंपरा से हटकर कोई अर्थ लगाने का प्रयत्न किया जाय जब कि यह सर्वविदित है कि पारंपरिक अर्थ में अनेक आंतरिक विसंगतियां हैं और जड़ चेतन भेद का संतोषदायक स्पष्टीकरण भी नहीं है। यदि पार्यंतिक जड़वाद के रूप में सांख्य दर्शन को प्रस्तुत किया जाय तो वह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है। आधुनिक विज्ञान सांख्यीय जड़वाद की ओर ही अग्रसर हो रहा है ऐसा यदि हम कहें तो वह असंगत या अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। इस बात का भी लेख में स्पष्टीकरण है।

नारायणशास्त्री द्राविड़

उन्मीलन-गोष्ठियों की कार्यवाही

I

29 दिसम्बर, 1993 को उन्मीलन-गोष्ठी की बैठक हुई जिसमें प्रोफेसर दयाकृष्ण ने भारतीय दर्शन के परिदृश्य पर अपने विचार व्यक्त किये। बैठक में श्री यशदेव शल्य, डा. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. मुकुन्द लाठ, डॉ. के. एल. शर्मा, डॉ. राजकुमार जैन व डॉ. सरला कल्ला ने विचार-विमर्श में भाग लिया। इस गोष्ठी की कार्यवाही का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

अपनी प्रस्तुति के प्रारम्भ में प्रोफेसर दयाकृष्ण ने कहा कि भारतीय दर्शन के बारे में अधिक आत्मचेतन होकर विचार करने की आवश्यकता है। भारतीय दर्शन को आज तक जिस रूप में देखा व समझा जाता रहा है और जिन मान्यताओं को इसकी मूल मान्यताओं के रूप में स्थापित किया जाता रहा है वह उसकी सही तस्वीर नहीं है। यदि यह बात ठीक है तो यह ज़रूरी है कि नये सिरे से भारतीय दर्शन को देखा व परखा जाए और एक नई तस्वीर बनाई जाय। प्रथम तो हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि दर्शन बुद्धि-प्रधान और तर्क का क्षेत्र है। बौद्धिकता और तर्कप्रधानता दर्शन के 'दर्शन' होने की अनिवार्य शर्त हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि दर्शन को इस रूप में देखना पश्चिमी दर्शन, या अधिक सही रूप से कहें तो 'यूरोपीय दर्शन' की दृष्टि से प्रभावित होना है। वास्तव में हमारी अपनी परम्परा में भी दर्शन को इसी रूप में देखा गया है। किसी भी शास्त्रीय दार्शनिक ग्रंथ में पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष को प्रस्तुत किया जाना अनिवार्यता समझी जाती रही है। हम इसे भारतीय दर्शन का अंतरंग या प्राण भी कह सकते हैं, हालांकि भारतीय दर्शन का जो चित्रण किया जाता रहा है उसमें इस प्रमुख तत्त्व की उपेक्षा की जाती रही है। दूसरे, भारतीय दर्शन को ऐसे प्रस्तुत किया जाता रहा है मानो वह समाप्त हो गया है, इतिहास का विषय हो गया है और कि सम्भवतः नव्य न्याय के बाद कोई महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिंतन की धारा ही नहीं रही है। लेकिन यह तथ्यतः ग़लत बात है। हम नव्य न्याय की तो चर्चा करते हैं नव्य वेदान्त की चर्चा नहीं करते। कार्ल पॉटर की बनाई गई पुस्तक और लेख-सूची को देखने भर से हमें ज्ञात होगा कि भारतीय दार्शनिक वैचारिक परम्परा जीवित रही है लेकिन संस्कृत भाषा में विचार करने वाले विचारकों तक। दर्शन के उन विचारकों से, जिनके विचार का माध्यम संस्कृत नहीं है, उसका परिचय या आदान-प्रदान नहीं हो रहा है। इस वस्तुस्थिति को बदलने की आवश्यकता है। आचार्य बद्रीनाथ शुक्ल के **शतश्लोकी** का उदाहरण देते हुए प्रोफेसर दयाकृष्ण ने बताया कि आचार्य शुक्ल ने इसमें एक नया विचार प्रस्तुत किया है कि न्याय के वैचारिक तंत्र में रहते हुए देहात्मवाद की स्थापना की जा सकती है। इस स्थापना के लिये उन्होंने

एक मान्यता का आश्रय लिया है कि दो परस्पर विरोधी गुणों या विधेयों का उसी एक उद्देश्य के लिए कथन किया जा सकता है। यदि हम इस मान्यता पर विचार करें तो यह कई नये प्रश्न जगाती है। प्रथम, क्या न्याय के तंत्र के भीतर रहते हुए देहात्मवाद की स्थापना सम्भव है? दूसरे, यदि हम ऐसा मान लें कि एक उद्देश्य के बारे में विरोधी विधेयों का कथन किया जा सकता है तो क्या देहात्मवाद के अतिरिक्त और दूसरी स्थापनाएं नहीं प्रस्तुत की जा सकतीं? तीसरे, क्या उद्देश्यों में स्वरूप-भेद की बात सोची जा सकती है? यदि कोई उद्देश्य स्वरूपतः परिवर्तनीय है तो ऐसा सोचा जा सकता है कि उसके बारे में विरोधी विधेयों का कथन सम्भव है? यह मात्र एक उदाहरण है।

डॉ. लाठ ने यह मत व्यक्त किया कि विचार का इतिहास हो यह ज़रूरी नहीं है, मूल बात यह है कि धारा बनी रहे। एक भिन्न प्रश्न उठाते हुए शल्य जी ने कहा कि परम्परा में पूर्वपक्ष या उत्तरपक्ष को जिस रूप में रखा गया है वह एक तरह से वैचारिक बंधन का कारण भी बना है। यह ज़रूरी नहीं है कि हम न्याय या बौद्धों की परंपरा में रहकर ही विचार को आगे बढ़ाए। जिस **शतश्लोकी** को दया जी ने बतौर उदाहरण प्रस्तुत किया है उससे यही स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी एक दार्शनिक विचार को किसी तंत्र के भीतर रहते हुए बढ़ाने की चेष्टा कर रहे हैं। ऐसा करने से विचार-स्वातंत्र्य पर आघात होता है। अच्छा हो यदि हम निश्चित संप्रत्ययों व तंत्रों से अलग होकर स्वतंत्र रूप से विचार को आगे बढ़ाएं। शल्य जी ने यह भी कहा कि ऐसा हुआ है कि विचारक परंपरा में तो बात कर रहे हैं लेकिन भिन्न प्रकार से कह रहे हैं। हमारी वर्तमान दार्शनिक परिस्थिति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि हमारा देश स्वतंत्रता के बाद औपनिवेशिक मनोवृत्ति से और भी अधिक ग्रसित हो गया है। उन्होंने दयाजी से प्रश्न किया कि दया जी ने अपने विचार को व्यक्त करने के लिए अंग्रेज़ी भाषा का सहारा क्यों लिया है? दूसरे, वे किन्हें अपना पाठक समझते हैं? क्यों उन्हें अपने आलोचक के तौर पर पॉटर ही दिखाई पड़ते हैं? डॉ. राजकुमार जैन ने भिन्न प्रश्न उठाते हुए कहा कि क्या दार्शनिक चिंतन स्वांतःसुखाय नहीं हो सकता? दूसरे, खंडन-मंडन से वैचारिक स्तर पर कोई लाभ हो सकता है? तीसरे, यह देखने की बात है कि भारतीय परंपरा में दार्शनिक का क्या स्थान है? मैंने यह प्रश्न उठाया कि अपनी दार्शनिक परंपरा को बनाए रखना व उसमें सातत्य की बात करना ठीक लगता है लेकिन यदि हम कानून या विधि के बारे में चिंतन करें तो एक भिन्न कठिनाई का सामना करना पड़ता है। विधिक चिंतन के इतिहास की ओर देखें तो हम पाते हैं कि भारत में अंग्रेज़ी शासन के आरम्भ से पहले एक समृद्ध शास्त्रीय चिंतन-परम्परा दिखाई देती है लेकिन उसके बाद विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से हमने तमाम पाश्चात्य संप्रत्ययों, अवधारणाओं व मूल्य-तंत्र को स्वीकार कर लिया। यह समस्या केवल विचार के स्तर तक ही नहीं रही, ऐसी सोच ने विशेष किस्म के सामाजिक यथार्थ को जन्म दिया है। आज का कानून तंत्र हमारे सामने जिस रूप में अस्तित्व रखता है उसका अध्ययन करते हुए हम विदेशी सोच से बच ही नहीं सकते। विधिक चिन्तन के क्षेत्र में हमारी शास्त्रीय परंपरा

शायद हमारे लिए इतिहास बन गई है। हम अपनी परम्परा में रहते हुए उस सामाजिक यथार्थ को कैसे समझें जो कि आयातित सोच का परिणाम है, यह एक समस्या है। इस विषय पर गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

II

दिनांक 24 फरवरी, 1994 को उन्मीलन-गोष्ठी हुई जिसमें डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने पूर्व में हुई (29 दिसम्बर, 93) गोष्ठी में प्रोफेसर दयाकृष्ण द्वारा भारतीय दर्शन पर प्रस्तुत विचार को आगे बढ़ाते हुए अपनी समीक्षा टिप्पणी प्रस्तुत की। बैठक में प्रोफेसर दयाकृष्ण, श्री यशदेव शल्य, डॉ. सरल झिंगरन, श्रीमती योगेश गुप्त व डॉ. सरला कल्ला ने भाग लिया। गोष्ठी का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

पिछली गोष्ठी में भारतीय दर्शन के अध्ययन के सम्बन्ध में प्रस्तुत विचार का उल्लेख करते हुए डॉ. भटनागर ने कहा कि भारतीय परम्परा का कोई वैशिष्ट्य है या नहीं इस पर विचार करने से पूर्व इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिए कि वैशिष्ट्य का प्रश्न आज हमारे लिए इसलिए उठा है क्योंकि आज हम एक भिन्न परम्परा, पाश्चात्य परंपरा, के प्रभाव में आये हैं। एक दूसरी परंपरा से, जो समृद्ध है और समृद्धि का दावा भी करती है, परिचय होने के बाद ही हम अपने वैशिष्ट्य का प्रश्न उठा रहे हैं। यह समस्या न हमारे प्राचीन विचारकों के सामने हो सकती थी न ही समकालीन पाश्चात्य दर्शन के अध्येताओं के सामने है, क्योंकि वे भारतीय परंपरा को समानान्तर परंपरा के रूप में देखते ही नहीं। हमारे आज के चिंतन में इसी संदर्भ में वैशिष्ट्य का प्रश्न हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो गया है। शुद्ध संस्कृत परंपरा में हो रहे दार्शनिक चिंतन को छोड़ दें तो शेष वैचारिक स्थिति यह है कि हम अपनी परंपरा को भी स्वतंत्र चिंतन करते हुए आगे नहीं बढ़ा पा रहे हैं, न ही हम पाश्चात्य चिंतन पर स्वतंत्र वैचारिक दृष्टिकोण रख रहे हैं। प्लेटो द्वारा उठाए गए जिन प्रश्नों को प्लेटो के पाश्चात्य टीकाकारों ने महत्त्वपूर्ण समझा है हम भी उन्हीं प्रश्नों को महत्त्वपूर्ण समझ रहे हैं। इस स्थिति को बदलने की आवश्यकता है। भारतीय परंपरा का वैशिष्ट्य क्या है, उसका स्वरूप क्या है, अभी इस प्रश्न का समाधान सम्भव नहीं है। यह तस्वीर आगे कभी उभरेगी। अभी हमें स्वतंत्र चिंतन की दिशा में बढ़ने में प्रयासरत रहना चाहिए। इससे वैशिष्ट्य उभरेगा। पर यह निश्चित है कि आज तक भारतीय परंपरा का जो चित्रण किया जाता रहा है वह कम से कम उसकी सही तस्वीर नहीं है।

श्री शल्य ने इस पर कहा कि यह एकदम से सही नहीं है कि संप्रति भारत में कोई दार्शनिक सृजन नहीं हो रहा है। पीछे श्री अरविन्द, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ही, कुछ योगदान दूसरों का भी रहा है। इस समय भी कुछ दार्शनिक हैं जो महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। परंपरागत ढंग से संस्कृत और भारतीय भाषाओं में लिखने वाले भी बहुत से विचारक हैं जिनका हमें कोई ज्ञान नहीं है। कठिनाई यह है कि

अंग्रेज़ों के आने के बाद विचारकों और लेखकों की मुख्य धारा पश्चिम की ओर उन्मुख है और उस धारा से पृथक् अपनी परंपरा में अथवा स्वतंत्र विचार करने वालों का कोई अपना तंत्र या समाज नहीं है। पश्चिम के अनुयायी, जो मुख्य धारा बने हुए हैं और जो अधिकार-शक्ति-संपन्न हैं, वे उनकी ओर वैसे कोई ध्यान नहीं देते। इसके बाद मैंने सामाजिक चिन्तन के सन्दर्भ में कहा कि जो सामाजिक यथार्थ हमारे सामने है वह स्वयं कुछ हद तक पश्चिम के प्रभाव का परिणाम है। इसके स्पष्टतम उदाहरण हमारी विधि-व्यवस्था और राज्य-तंत्र हैं। इस यथार्थ का अध्ययन करते हुए हम पाश्चात्य चिंतन से, उसकी पद्धतियों से, कैसे बच सकते हैं? प्रोफेसर दयाकृष्ण ने कहा कि ऐसा नहीं है कि हमारी अपनी परंपरा में सामाजिक जीवन या विशेष रूप से 'विधि' पर समृद्ध चिंतन नहीं हुआ है। केवल उन संप्रत्ययों या अवधारणाओं को नये सिरे से देखने की आवश्यकता है। किसी अवधारणा की सैद्धान्तिक सामर्थ्य क्या है यह उसे देखने और विकसित करने से ही प्रकट होता है।

तीसरी उन्मीलन-गोष्ठी (21.11.94) में डॉ. (कु.) सरला कल्ला ने डॉ. हर्षनारायण के इस अंक में प्रकाशित लेख "धर्म और (वर्तमान) राजनीति" पर अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत की, जो नीचे उद्धृत की जा रही है। इस बैठक में डॉ. कल्ला के अतिरिक्त डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, डॉ. के. एल. शर्मा, श्री यशदेव शल्य तथा डॉ. (श्रीमती) सिरल झिंगरन ने भाग लिया। इनकी प्रतिक्रियाओं का विवरण हम यहां प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। डॉ. कल्ला के अनुसार—

धर्म और राजनीति : एक टिप्पणी

हर्षनारायण जी अपने लेख "धर्म और वर्तमान राजनीति" के प्रारम्भ में एक महत्त्वपूर्ण व वर्तमान समय में प्रासंगिक प्रश्न पर विचार करते हैं और प्रबुद्ध समाज को इस पर विचार करने के लिए आमंत्रित भी करते हैं। लेख को पढ़ने के बाद ऐसा लगता नहीं है कि लेखक स्वयं विचारविमर्श के बाद किसी निष्कर्ष पर पहुंचे हों, वे जो पहले ही मानते हैं उसे तर्क से पुष्ट करने की चेष्टा करते भी नहीं दिखाई देते। उनका मत भावना से प्रेरित दिखाई देता है और इसलिए यदि ठीक भी है तो भी युक्तियुक्त आधार दिये जाने की अपेक्षा रखता है। मुझे यह लेख बहुत सुविचारित नहीं लगा। मैं ऐसा इसलिए कह रही हूं क्योंकि लेख के प्रारम्भ में ही जो प्रश्न उठाए गए हैं वे भी ठीक तरह से प्रस्तुत नहीं किये गये हैं। जैसे कि, लेखक यह प्रश्न उठाते हैं कि धर्म का राजनीति से क्या सम्बन्ध है? जबकि ज़ाहिर है कि वे इस तथ्यात्मक प्रश्न पर विचार नहीं करना चाहेंगे बल्कि यह कि इनमें क्या सम्बन्ध होना चाहिए? अब दूसरा प्रश्न देखिए : "धर्म-प्रवण राजनीति और राजनीति-प्रवण धर्म में से कौनसा वरणीय है? धर्म का कोई भी अर्थ लेते हुए, यदि हम कोई ऐसा मूल्यात्मक प्रश्न उठाते हैं तो इसके दो उत्तर दिए जा सकते हैं : या तो हम यह कहें कि (1) धर्म को राजनीति से स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए, या (2) राजनीति स्वयं धर्म से अनुप्राणित हो। इसका उलट, कि धर्म स्वयं राजनीति-प्रवण हो, इस

मत की स्थापना किसी ने की है, मुझे ऐसा ज्ञात नहीं है, हां, एक विशिष्ट धर्म अपने द्वारा स्वीकृत मूल्यों के आधार पर विशेष प्रकार की राजनीति को ही समर्थन दे सकता है, ऐसा हम कह सकते हैं। यदि 'धर्म राजनीति प्रवण हो' यह बात ठीक से स्थापित नहीं की जा सकती तब प्रश्न को ऐसे रूप में रखा ही कैसे जा सकता है कि "धर्म-प्रवण राजनीति या राजनीति-प्रवण धर्म में से कौन सा वरणीय है?" अब तीसरा प्रश्न देखिए "क्या धर्म के बिना राजनीति व राजनीति के बिना धर्म सम्भव/श्लाघ्य है?" इस प्रश्न का उत्तरार्द्ध भी इसी रूप में समस्यात्मक है कि "राजनीति के बिना धर्म सम्भव नहीं है।" इस मत को गम्भीरतापूर्वक स्थापित करना मुश्किल बात है। बहरहाल हम यह मान लेते हैं कि लेखक यह प्रश्न उठा रहे हैं कि धर्म व राजनीति में क्या सम्बन्ध होना चाहिए, खास तौर पर हमारे देश की मौजूदा परिस्थितियों में, लेकिन लेखक लेख के अंतिम भाग में यह कहते हैं कि यह प्रश्न ऐसा नहीं है, प्रश्न यही है कि "हिंदुत्व राष्ट्र की अखंडता, सुरक्षा, धर्म, संस्कृति के संरक्षण संवर्धन का प्रतिभूत है जबकि इस्लाम राष्ट्र की अखंडता व धर्म, संस्कृति के लिए सदा से खतरा बना रहा है। क्या राज्य को दोनों के प्रति समान रूप से तटस्थ रहना चाहिए अथवा राष्ट्र-संग्राहक धर्म को प्रश्रय और पोषण प्रदान करना चाहिए?" अब चूंकि राष्ट्र-रक्षा लेखक की दृष्टि से परम मूल्य है, तो फिर उत्तर स्पष्ट ही है। लेखक की बात ठीक भी हो तो भी वह बहुत सरलीकृत करके रखी गई है ऐसा मुझे लगता है। वास्तव में धर्म व राजनीति के मध्य संप्रत्ययात्मक सम्बन्ध का निर्धारण कहीं अधिक जटिल समस्या है। इसके लिए धर्म व राजनीति दोनों ही से क्या तात्पर्य है पहले इसे स्पष्ट करना होगा। लेखक ऐसा करते भी हैं, विशेष रूप से धर्म के संप्रत्यय के बारे में, लेकिन वे अपनी विवेचना को अनिवार्यतः अपने निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए प्रयुक्त नहीं करते। लेखक ने जिन धारणाओं को स्पष्ट रूप से रखा है व तदनुकूल जो उन्हें अभिप्रेत हो सकता है, उसे मिलाकर उनके विचार की तस्वीर कुछ ऐसे बनती है:

लेखक राजनीति से वही अभिप्राय लेते हैं जो आजकल सामान्य तौर पर प्रत्येक व्यक्ति समझता है। धर्म के संप्रत्यय की व्याख्या में लेखक कहते हैं कि — धर्म दो प्रकार का होता है — तात्त्विक तथा संस्थाबद्ध, जो कि खुला या बंद हो सकता है। तात्त्विक धर्म (1) मानवीय प्रवृत्ति के अनुकूल होता है, (2) यह अपने सार्वभौमिक नियमों के प्रति आवश्यक कर्त्तव्यता-बोध की अपेक्षा रखता है, जैसे शरणागत की रक्षा, राष्ट्र की रक्षा, मानवता की रक्षा, अंत में मानव की स्वयं की रक्षा आदि, (3) इस धर्म का आधान मनुष्य मात्र होता है, (4) यह तर्क से स्थापित नहीं होकर हृदयानुभूतिमूलक होता है। समता, विश्व बंधुत्व, स्वतन्त्रता, अहिंसा आदि मूल्य धर्म-बुद्धि की ही उपज हैं। लेखक मनु को उद्धृत करते हैं कि "रागद्वेष से रहित श्रेष्ठ पुरुषों से सेवित सहृदयानुभूत धर्म ही तात्त्विक धर्म है।"

धर्म को जब पुस्तकस्थ मान लिया जाता है तो वह अपनी विशिष्ट व्यवस्था विकसित कर लेता है और संस्थाबद्ध हो जाता है। हिन्दू व इस्लाम धर्म दोनों ही संस्थाबद्ध हैं

लेकिन प्रथम खुला धर्म व दूसरा बंद धर्म है। बंद धर्म अपने साथ कई विकृतियां लाता है जबकि खुला धर्म परिवर्तन को स्वीकार करता है व वैविध्य को जन्म देता है।

हर्षनारायण जी के मतानुसार ऐतिहासिक रूप से यह प्रमाणित है कि हिन्दू या बौद्ध धर्म अहिंसामूलक संस्कृति के वाहक रहे हैं जबकि इस्लाम हिंसा का प्रयोग व प्रसार करता रहा है और यह कोई आनुषंगिक बात नहीं है, बल्कि इस्लाम धर्म अपने स्वरूप में ही ऐसा है कि हिंसा को प्रश्रय देता है। बात को आगे बढ़ाते हुए यह कह सकते हैं कि यह धर्म तात्त्विक धर्म के मूल्यों के प्रतिकूल पड़ता है, अतः मानवीय प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है, और इसलिए मानव मात्र का धर्म बन भी नहीं सकता। इस विचार को लेख के अंतिम भाग से जोड़ें तो कहा जा सकता है कि यदि राजनीति का सम्बन्ध व्यक्तिमात्र के कल्याण से है तो वही धर्म किसी राज्य-व्यवस्था में प्रश्रय पा सकता है जो विशुद्ध मानवीय मूल्यों के अनुकूल पड़ता हो। यदि इस्लाम ऐसा नहीं है व हिन्दू धर्म ऐसा है तो राज्य को चाहिए कि वह हिन्दू धर्म को संरक्षित करे व इसका पोषण करे। इस्लाम केवल धर्म ही नहीं है, जीवन के प्रति संपूर्ण दृष्टिकोण है, और यदि यह अपने में घातक मूल्यों को समेटे हुए है तो उसके प्रति निरपेक्ष या तटस्थ रहना राज्य के लिए उचित नहीं है। लेखक का मूल सारांश यही है। इसमें उल्लिखित तथ्यात्मक बातों को मैंने छोड़ दिया है।

मैं समझती हूं कि हर्षनारायण जी का मत कुछ वैचारिक स्पष्टता की मांग करता है। वे तात्त्विक धर्म उसे ही कह रहे हैं जिसे हमारी शास्त्रीय परम्परा में 'सामान्य धर्म' कहा गया है। जब वे संस्थाबद्ध धर्म की बात कह रहे हैं तो यहां तात्पर्य अंग्रेज़ी के रिलिज्यन शब्द के वाच्य से है। यह प्रश्न अपने आप में विचारणीय है कि क्या कोई धर्म ऐसा है जो तत्त्व में प्रतिष्ठा न रखे या कि जो व्यक्ति के मात्र व्यक्ति रूप में अस्तित्व व लक्ष्य के बारे में दृष्टिकोण नहीं रखता हो . . . तात्त्विक धर्म व संस्थाबद्ध धर्म तार्किक रूप से असंबद्ध नहीं जान पड़ते अपितु संस्थाबद्ध धर्म तात्त्विक धर्म की किसी अवधारणा पर आधारित लगता है। तात्त्विक धर्म का स्वरूप परिवर्तनीय हो सकता है। कम से कम इस अर्थ में तो हो ही सकता है कि मूल्यों की प्राथमिकताएं बदलती हैं। हमारी अपनी शास्त्रीय परम्परा में अहिंसा व सत्य की बात बहुत की गई है लेकिन समता की बात की गई हो ऐसा नहीं है। सामाजिक स्वतन्त्रता की बात कम की गई है जबकि मुक्ति का प्रश्न अधिक चर्चा में रहा है। यह बात जरूर है कि जो संस्थाबद्ध धर्म मानव मात्र की दृष्टि से मूल्यों का सृजन व अनुसरण करता है वह उतना ही जीवंत व स्थायी बना रहता है। इस्लाम में ऐसा कुछ है या नहीं, यह मुझे ज्ञात नहीं है। यह इस्लामी चिंतन-परम्परा के विचारक बता सकते हैं

धर्म का संस्थाबद्ध होना या पुस्तकस्थ होना अपने-आप में समस्याप्रद नहीं है जैसाकि हर्षनारायण जी स्वयं कहते हैं। लेकिन यह द्रष्टव्य है कि उस धर्म में भी वाद-विवाद हुए हैं और विभिन्न संप्रदाय बने हैं, इसी प्रकार आधुनिक प्रबुद्ध इस्लामी विचारक भी इस दिशा में पहल कर सकते हैं। यदि प्रयास करेंगे तो परिवर्तन के लिए तार्किक आधार भी

ख़ोज लेंगे। जैसे, एक युक्ति यह हो सकती है कि जो धर्म स्वयं सामाजिक क्रांति की घोषणा करता हुआ अस्तित्व में आया वह परिवर्तन का विरोध कैसे कर सकता है? यह तो एक सैद्धांतिक बात हुई। तथ्यतः भी हम देखते हैं कि इस्लाम में कई संप्रदाय प्रचलित हैं, कुरान के भाष्यकार भी अनेक हैं। उन्होंने इस्लाम में कुछ परिवर्तन किया ही होगा। यह परिवर्तन किस दिशा में हुआ है और कहां तक हुआ है यही विचारणीय है। इस धर्म की कुछ मान्यताओं को नये सिरे से देखने परखने की जरूरत है। यह इस्लाम के अपने स्वस्थ विकास के लिए भी जरूरी होगा। आज के विश्व में बौद्धिक-वैचारिक क्षेत्र में या धर्म के क्षेत्र में यही दृष्टिकोण उचित प्रतीत होता है कि आप अपने विचार और धर्म के प्रति निष्ठावान रहें व अन्य के विचारों व धर्मों का आदर कर सकें। इस्लाम की समस्या अपने में सिमटने की समस्या है। यदि वह अपने को इतना खुला कर सके कि अन्य धर्मों व समाजों के लिए गतिरोध व तनाव उत्पन्न न करे तो हमारे देश में मौजूदा हालात में राजनीति व धर्म में क्या सम्बन्ध हो, इस प्रश्न का उत्तर वह नहीं होगा जो हर्षनारायण जी देते हैं। उन्हीं के तर्क पर चलता हुआ कोई कहे कि मुस्लिमबहुल समाज में उनकी संस्कृति के लिए, राष्ट्र के लिए, इस्लाम का पोषण, संवर्धन अनिवार्य है और अन्य धर्मों की उपेक्षा हो तो उनके पास इसके विरुद्ध क्या तर्क बचा रहता है? यदि ऐसा वास्तव में कुछ राष्ट्रों में हो रहा है और ग़लत है तो हम उसी ग़लती को क्यों दोहरायेंगे? मानवता व विश्वबन्धुत्व या न्याय के मूल्यों की रक्षा के लिए क्या यह उचित नहीं होगा कि सभी धर्म सहिष्णु बनने की हद तक अपने द्वार खुले रखें?

सरला कल्ला,
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

समीक्षार्थ प्राप्त ग्रंथ

1. भारतीय समाज — गोविन्दचन्द्र पाण्डे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
2. लाइफ एंड थॉट ऑफ शंकराचार्य — गोविन्दचन्द्र पाण्डे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
3. स्टडीज़ इन महायान — गोविन्दचन्द्र पाण्डे
4. चिद्-विमर्श — यशदेव शल्य, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर
5. मूल्यतत्त्व-मीमांसा — यशदेव शल्य, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

६. संगीत एवं चिन्तन — मुकुन्द लाठ

७. मैन एंड हिज़ डेस्टिनी : विद स्पेशल रेफरेंस टू मार्क्स एंड सात्र — आलोक टंडन

हर्षनारायण जी का स्मरण

अपनी अद्‌भुत विद्वत्ता, विचार-सम्पन्नता और कर्मण्यता के लिए प्रथित डॉ. हर्षनारायण का 6 अगस्त 1994 को लखनऊ में हृदयाघात से निधन हो गया। वे अपने देश की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट और इन्हें उपयुक्त दिशा देने के लिए निरन्तर उदग्र रहते थे और उनके अध्ययन और विचार के यही मुख्य विषय थे। इसलिए दर्शन के गहन अध्येता और परिनिष्ठित विद्वान होने पर भी उन्होंने दर्शन से अधिक सामयिक समस्याओं पर लिखा।

उनका जन्म 1 नवम्बर, 1922 को आज़मगढ़ (उत्तर प्रदेश) में हुआ। उन्होंने एम. ए. नागपुर विश्वविद्यालय और पी-एच. डी. लखनऊ विश्वविद्यालय से की। 1971 तक उत्तर प्रदेश सरकार के दफ्तरों में फाइलें पलटने के बाद वे लखनऊ विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में व्याख्याता के पद पर नियुक्त हुए। मूर्धन्य विद्वान होने पर भी अनति योग्य व्यक्तियों को सुलभ इस पद पर उनकी यह नियुक्ति उनके लिए कोई गौरव की बात नहीं होने पर भी वास्तव में उनके लिए एक बड़ी उपलब्धि ही थी। लखनऊ विश्वविद्यालय में दर्शन के व्याख्याता रहने के अनंतर वे नार्थ हिल यूनीवर्सिटी, शिलांग में रीडर होकर गए जहाँ से वे रिटायर हुए। रिटायर होने के बाद वे मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में इस्लाम के अध्यापन के लिए विज़िटिंग प्रोफेसर के रूप में आमंत्रित किये गए। वे हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेज़ी, अरबी और फारसी भाषाओं के पंडित थे और विभिन्न धर्मों, विशेषतः विभिन्न हिन्दु-धर्म-सम्प्रदायों और इस्लाम का उनका अध्ययन बहुत गहरा था।

हर्षनारायण जी के असंख्य लेखों के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थ प्रकाशित हुए :

1. एवोल्यूशन ऑफ डायलेक्टिक इन वेस्टर्न थॉट, 2. एवोल्यूशन आफ न्याय-वैशेषिक केटेगोरियालोजी, 3. डिस्कवरी ऑफ मार्क्स, 4. फेसेट्स ऑफ इंडियन रिलिज्यो फिलोसोफीकल आईडेंटिटी, 5. सिर्र-इ-अकबर सहित उपनिषद् समुच्चय, 6. भारतीय सेक्युलरवाद पर पुनर्विचार, 7. सम्मिश्र संस्कृति और सर्वधर्मसमता के प्रवाद, 8. जिजय्ह एंड स्प्रेड ऑफ इस्लाम, 9. मिथ्स ऑफ कंपोजिट कल्चर एंड ईक्वालिटी आफ रिलिज्यंस, 10. भारतीय सनातन संस्कृति के विविध आयाम, 11. दि अयोध्या टेंपल-मॉस्क़ डिस्प्यूट : फोकस ऑन मुस्लिम सोर्सेज़। प्रकाशनाधीन ग्रंथ — 1. भारतीय तत्त्वज्ञान : विविध आयाम, 2. प्रमाण कारिका (संस्कृत), 3. दि माध्यमिक माइंड, 4. राम-जन्मभूमि मन्दिर-मस्जिद-विवाद (मुस्लिम साक्ष्यों के आधार पर)।

हर्षनारायण जी जितने विद्वान थे उतने ही सभ्य और सुसंस्कृत भी थे। उनके देहान्त से भारतीय विद्वत्समाज को निश्चय ही बहुत क्षति पहुँची है और मैं अपने एक बहुत अच्छे मित्र से वंचित हुआ हूँ।

यशदेव शल्य

लाठ सर्वोदय ट्रस्ट ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्-विमर्श

वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष

यशदेव शल्य

इस विमर्श को लेखक ने 'वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष' कहा है। इसका अर्थ है कि इसमें वेदांत-सिद्धान्त का विवेचन या उस सिद्धान्त का नवीन विधि से प्रतिपादन नहीं है बल्कि उस अनुभव को बुद्ध्या समझने का प्रयत्न किया गया है जिसका औपनिषद ऋषियों ने प्रतिभया और सन्त कवियों ने अनुभूत्या साक्षात्कार किया था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें उपनिषदों के मंत्रों का या सन्त कवियों की वाणी का विवेचन है। जिस प्रकार सन्तों के काव्य में न उपनिषद्-मंत्रों का काव्यात्मक आख्यान है और न औपनिषद साक्षात्कारों का काव्यात्मक अनुवचन बल्कि आत्मचेतना के भावनात्मक साक्षात्कार का स्वतंत्र उन्मेष है उसी प्रकार यहां लेखक ने आत्म-चेतना का ही बुद्ध्या अवगाहन करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए इस पुस्तक में न कोई सिद्धान्ताग्रह है न कोई सांप्रदायिकता बल्कि यथाप्राप्त अर्थों और तत्त्वों का मर्म समझने का प्रयत्न है।

अध्याय-सूची

1.दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य, 2.मनुष्य और जगत्, 3.जगद्-वासना, 4.जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त, 5.आत्म और अनात्म, 6.कला-सर्जन, 7.धर्म-दर्शन, 8.मनुष्य, समाज तथा इतिहास विषयक वैदान्तिक अवधारणा, 9.तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य – रुपये 175.00

(यह पुस्तक 1986 में मनुष्य और जगत् नाम से अशुद्ध मुद्रित और भ्रष्ट प्रकाशित पुस्तक का शुद्ध, संशोधित, पुनर्व्यवस्थित, सुन्दर और गुणानुरूप नामान्तरित संस्करण है।)

लाठ सर्वोदय ट्रस्ट ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

लेखक – यशदेव शल्य

मूल्य को दार्शनिकों ने सत् से भिन्न करके देखा है और प्रथम को उन्होंने साधना का विषय और दूसरे को ज्ञान का विषय माना है। इस प्रकार प्रथम उनके अनुसार चेतना की भाव्य स्थिति है और दूसरी भूत वस्तु। किन्तु प्रस्तुत लेखक सत् को ही भाव्य वस्तुस्थिति या चित्स्थिति के रूप में देखता है। इस प्रकार मूल्य और सत् उसके लिए दो पृथक् क्षेत्र नहीं हैं, ये केवल आयाम-भेद हैं। भेद एक प्रकार से अस्तित्व और मूल्य में कहा जा सकता है, अस्तित्व वस्तु के यथाभूतत्व का और मूल्य उसके यथाभाव्यत्व का पक्ष है। लेखक ने इस दृष्टि का प्रतिपादन प्रथमतः **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** में किया, प्रस्तुत पुस्तक में इसका परिष्कार और विस्तार किया है। इस पुस्तक में निम्न अध्याय हैं :

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण, 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा, 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता, 4. धर्मनीति का तत्त्व, 5. धर्मनीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप, 6. कला का अन्वेष्य–1, 7. कला का अन्वेष्य–2, 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप, 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य, 10. आत्मान्वेषण–1, 11. आत्मान्वेषण–2, 12. स्वातंत्र्य।

प्रोफेसर बसन्तकुमार लाल की स्मृति में

•

विधाता ने बसन्त बाबू को भी 9 अक्टूबर, 1994 को हम से छीन लिया। बसन्त बाबू दर्शन के एक उत्कृष्ट अध्यापक और प्रतिष्ठित लेखक तो थे ही किन्तु उससे भी अधिक वे एक अत्यन्त स्नेही और उदार हृदय व्यक्ति थे। यद्यपि उनके जीवन के पिछले कुछ वर्ष कष्ट में बीते – उनकी अत्यन्त स्नेहभाजन पुत्री की अकाल मृत्यु, कुछ असामाजिक तत्त्वों से परेशानी और अस्वास्थ्य – किन्तु तब भी कभी उद्विग्न दिखायी नहीं दिये।

उनका जन्म रांची में 1928 में हुआ किन्तु स्नातक स्तर से पी-एच. डी. तक उनकी शिक्षा पटना विश्वविद्यालय में हुई। पटना में ही उनकी व्याख्याता पद पर नियुक्ति हुई जहाँ से अनेक वर्ष बाद बोध गया विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होकर गए।

उन्होंने दर्शन के विभिन्न पक्षों पर अनेक ग्रंथ लिखे। व्याख्यानों के लिए वे अमेरीका और यूरोप भी गए। अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, इंडियन फिलासफीकल कांग्रेस तथा बिहार दर्शन परिषद् में उनका निरन्तर योगदान रहता था। उनसे मेरा परिचय 30 से अधिक वर्ष पहले अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रसंग में हुआ और शीघ्र ही परिचय स्नेहपूर्ण मैत्री में परिणत हो गया।

उनका अभाव सार्वजनिक जीवन में देर तक बना रहेगा, व्यक्तिगत रूप से मुझे तो उनकी अनुपस्थिति खिन्नता देगी ही।

यशदेव शल्य